श्रीहरिः

श्रीब्रह्मवादैकस्थापकाय नमः ।

ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते ।

ब्रह्मवाद

भगवद्भक्ति तथा सर्वात्मभावमें ब्रह्मवाद परम उपयोगी है, इसलिये इसका विचार भी अवश्यकर्तव्य है । ब्रह्मके स्वरूप-को जाननेके लिये किंवा ब्रह्मप्राप्तिके लिये जो ब्रह्मवेत्ता निःस्वार्थ रागद्वेषरहित महापुरुषोंका वाद अर्थात् ब्रह्म-विचार है, वह ब्रह्मवाद[1] कहा जाता है । 'वाद' शब्दसे केवल वाणीसे कथनमात्र विचार नहीं समझना चाहिये किन्तु शब्दार्थश्रवणमनननिदिध्यासनके द्वारा जो अनुभवरूप है, वह मुख्य ब्रह्मवाद है । यह ब्रह्मवाद दो प्रकारका है–मुख्य और अमुख्य । 'सर्वं (साक्षात्) ब्रह्म' 'सब कुछ साक्षात् भगवान् है' यह वाद मुख्य ब्रह्मवाद[2] है । किन्तु 'जीवो ब्रह्म' 'जीव भी ब्रह्म है' 'जड भी ब्रह्म है' 'जगत् ब्रह्म है' यह प्रतिनियत नाम-

---

१ ब्रह्मणो निरूपणार्थं वादः, वीतरागकथा यत्र वादस्तो विचारः । (सुबो०)

२ अयं मुख्यो ब्रह्मवादः । (सुबोधिनी)

रूपवाला विचार किंवा वाद अमुख्य ब्रह्मवाद है। प्रतिनियत नाम और रूपमें भेद लगा हुआ है, अज्ञान लगा हुआ है और विषयता भी लगी हुई है इसलिये यह वाद अमुख्य ब्रह्मवाद है। भेदसहिष्णु ब्रह्मवाद अमुख्य है, और केवल शुद्ध अभेदरूप ब्रह्मवाद मुख्य है। तत्त्वात्मरूप ब्रह्मवाद अमुख्य है और भगवत्त्व-रूप ब्रह्मवाद मुख्य है। सच्चिद्रूप अमुख्य ब्रह्मवाद है और सच्चिदानन्दरूप मुख्य ब्रह्मवाद है। नवलक्षणरूप अमुख्य ब्रह्मवाद है और नवलक्षणलक्ष्य दशम मुख्य ब्रह्मवाद है। त्याज्य अमुख्य ब्रह्मवाद है और ग्राह्य मुख्य ब्रह्मवाद है। आधेय अमुख्य है और आश्रय मुख्य ब्रह्मवाद है और केवल जगत् झूठा है इत्यादि वाद तो ब्रह्मवाद ही नहीं है। 'इति वादसमुद्देशः, उत्पत्तिर्वा।'

'अथोपपत्तिर्विचारो वा।' एक ही पदार्थको विविध रूप-में अनुभव करना विज्ञानका और विविध रूपोंमें एक ही पदार्थ-का अनुभव करना यह ज्ञानका असल स्वरूप है। एक विज्ञान-से सर्व विज्ञान कर लेना यह विज्ञान कहा जाता है और अन्वयव्यतिरेकसे सब पदार्थोंका एकरूपमें निश्चय कर लेना यह ज्ञान है। जिस तरह दुनियामें विविध बुद्धियाँ भी हैं और एक बुद्धि भी है इसी प्रकारसे ही ब्रह्मके विषयमें समझ रखना उचित है। गहनोंकी बुद्धियाँ भी हैं और सोनेकी बुद्धि भी है। वे अनन्त हैं तो वह एक ही है। उनकी कहीं भी स्थिरता नहीं तो यह आगे चलती ही नहीं। भेददृष्टि किंवा भेदबुद्धिका कहीं भी ठहराव नहीं होता, तो अभेदबुद्धि एक पैंड आगे नहीं बढ़ती। वस्त्रबुद्धि सर्वदा एक है, पर सूत, ऊन, रेशम, धोती,

सारी वगैरह प्रतिनियत रूपनामवाली बुद्धियोंका कहीं पता नहीं है । तूफानमें आयी हुई नावकी तरह इन बुद्धियोंका एक ठिकाना होना असम्भव है । यही बात ब्रह्मवादमें भी समझ रखना चाहिये । श्रीनारदजीने वेदव्यासजीसे कहा कि—

> ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विवक्षतः
> पृथग्दृशस्तत्कृतरूपनामभिः ।
> न कुत्रचित्क्वापि च दुःस्थिता मति-
> र्लभेत वाताहतनौरिवास्पदम् ॥ *
>
> (श्रीमद्भा० १ । ५ । १४)

मरुमरीचिकाकी तरह मायासे मोहित बुद्धियोंने पदार्थोंको कुछका कुछ समझ रक्खा है । इसलिये उनके पृथक् पृथक् नाम और रूपोंकी संख्या या उनका वर्णन पूरा हो नहीं सकता । क्योंकि दुनियाके पदार्थ अनन्त हैं । दुनियाके प्रायः लोग पृथक् द्रष्टा और पृथक् बुद्धिवाले हैं ऐसी दशामें यदि भेदबुद्धिको आगे रखकर कोई उन प्रतिनियत रूपनामवाले जगत्का पूरा वर्णन करना चाहेगा तो बुद्धि दुखी हो जायगी । और कभी भी कहीं भी जाकर अन्त नहीं आयेगा । सारी

---

* अभिधेयापर्यवसान इति सर्वथा तु । मरुमरीचिकावदियत्ताभावात् । भगवतो गुणानामनन्तत्वेऽपि निरन्वयम् । अतः कार्याणामनिरुक्त्या प्रथमत एवानिरूप्यारम्भणीयम् । यद्यपि सर्वमेव भगवच्चरित्रं तथापि भगवच्चरित्रत्वेनानिरूपणात्वेऽपि न तथात्वम् । पृथग्दर्शनकृतानि पदार्थस्य रूपनामानि न भगवत्कृतानि ।......कर्हिचिदपि कस्मिंश्चित्काले कस्मिंश्चिद्देशे बुद्धिरास्पदं न लभेत । सर्वत्रापि दुःखितत्वात् ।

(सुबोधिनी)

उमर पूरी हो जायगी पर कार्यकी समाप्ति ही न हो सकेगी। जड पदार्थ अनन्त हैं किन्तु उन्हें समझदारीसे समेटने लगोगे तो हद चार या पाँच निकलेंगे अर्थात् पञ्चमहाभूत। और इन्हें भी यदि पृथक् दृष्टिको छोड़कर एक बुद्धिसे ग्रहण करना चाहोगे तो कह सकते हो एक है, सत्। सद्बुद्धि एक है। पट है, घट है, राम है, श्याम है आदि है है है सब बुद्धियाँ एक (है) सत्में समा जाती हैं। यह सत् ही ब्रह्म है। यह सत् सच्चिदानन्द भगवान्का एक गुण है, धर्म है। सारी जड दुनिया इस सत्में समा रही है। सारी दुनियाके चरित्र इस सत्का चरित्र है। यद्यपि सारा जड जगत् सद् ब्रह्म ही है और इस तरह किसीका भी कुछ वर्णन ब्रह्मका ही वर्णन कहा जा सकता है किन्तु उस बुद्धिके विना कुछ भी नहीं। अन्धहस्ति-न्यायसे कुछ हो नहीं सकता। आपने भारत बनाया भी किन्तु भगवच्चरित्र नहीं कहा, यह कह सकते हैं।

भगवती गीता कहती है कि—

> व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
> बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

सम्पूर्ण जगत् केवल ब्रह्म है, यह निश्चय कर लेनेवाली बुद्धि एक है और जो बुद्धि कुछ निश्चय नहीं कर चुकी वह बहुशाख और अनन्त है। जितने शब्द हैं उन सबका अर्थ परब्रह्म भगवान् है। सृष्टिके आदिमें भगवान्ने अपने ही अनन्त रूपोंमें-से कुछ रूपोंको ग्रहणकर व्यवहार करनेके लिये जीवजातोंको दिये। यद्यपि वे भगवद्रूप हैं तथापि उस वास्तविक रूपसे और वास्तविक नामसे लोकव्यवहार नहीं चल सकता

इसलिये विषयताके वश होकर धीरे-धीरे लोककुशल पुरुषोंने भगवत्प्रेरणासे ही उन-उन पदार्थोंको नियत कर अपने व्यवहार-के अनुसार उनके अनेक नाम भी धर लिये। जब-जब व्यवहार-की अपेक्षा होती गयी तब-तब उत्तरोत्तर प्रतिनियत रूप और प्रतिनियत नाम बढ़ते गये, इस तरह उस विषयताके ही रूप और नाम अनन्त हो गये। और अनादिकालसे वृद्धव्यवहार-द्वारा आजतक वैसे-के-वैसे बढ़ते-घटते चले आ रहे हैं और इसी तरह न जाने कबतक चलते ही रहेंगे। जिस तरह लोकमें एक ही सद्ब्रह्मके या सच्चिदानन्द ब्रह्मके अनन्त नाम-रूप हो गये हैं इसी तरह वेदमें भी एक ही पदार्थके अनेक रूप-नाम हो रहे हैं। ब्रह्माने एक समय इस तत्त्वकी परीक्षा कर ली है। अपनी अन्तर्वर्तिनी दृष्टिसे प्रत्यक्ष कर लिया है और कहा भी है कि—

> यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः।
> नाविदं यज्ञसंभारान्पुरुषावयवादृते ॥

मैं जिस समय भगवान्के नाभिकमलमेंसे पैदा हुआ उस समय अति विस्तृत स्वरूपवाले भगवान्के अवयवोंके सिवा मुझे यज्ञ करनेके लिये कोई सामग्री ही नहीं मिली। तब और तरहसे कार्य चलता न देखनेपर मैंने उन्हीं भगवद-वयवोंमें यज्ञसामग्रियोंकी भावना करते हुए भगवान्से ही भगवान्का यज्ञ किया। इस तरह अनादिकालसे ये प्रतिनियत नाम और रूप चले आ रहे हैं। और वे इतने रूढ हो चुके हैं कि अब यदि किसीको यह कहें कि घड़ा घड़ा नहीं है तो कभी स्वीकार नहीं करेगा। तुम्हारा पिता पिता नहीं है तो लड़ने

लगेगा। किन्तु यह बुद्धि दृढ होनेपर भी व्यवसायात्मिका नहीं है क्योंकि किसी निश्चयको ग्रहण नहीं किये है। सत्य पदार्थका अन्तिम निर्णय ही निश्चय कहा जाता है। सब पदार्थों-के भीतर एक सत्य पदार्थ सच्चिदानन्द समाया हुआ है, उसी-पर ये प्रतिनियत नाम-रूप बनाये गये हैं। इसलिये सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि व्यवसायात्मिका है और प्रतिनियत रूप-नामकी बुद्धि अव्यवसायात्मिका है। व्यवसाय-बुद्धि एक ही रहती है और अव्यवसाय-बुद्धि बहुशाख और अनन्त है। सारी सृष्टि सदात्मक, चिदात्मक, आनन्दात्मक और सच्चिदानन्दात्मक है, ब्रह्म है। उसके ऊपर विषयतारूप सृष्टि है जिसपर दृष्टि जानेसे मनुष्य भ्रममें पड़ जाता है और निगाहमें वही सृष्टि समायी रहती है। फलाशासे प्रतिदिन उसमें दृढ आसक्त होता रहता है। और इस तरह भगवत्क्रीडा चिरकाल चलती है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो दुनियामें तीन ही पदार्थ है। इदंवाच्य, अहंवाच्य और तद्वाच्य। पिण्ड ब्रह्माण्ड किंवा सारा जड जगत् इदंवाच्य पदार्थ है। आत्मा (जीव) अहंवाच्य पदार्थ है और विशुद्ध (दुःखसे न मिला हुआ) आनन्द तद्वाच्य पदार्थ है। पिण्ड ब्रह्माण्डको किंवा सारे जड जगत्को हम किसी-न-किसी तरह आपाततः प्रत्यक्षद्वारा जानते है इसलिये इदंवाच्य है। आत्माको, प्रत्यक्ष न होने-पर भी विशुद्ध मनके द्वारा हम अपनपारूप जानते हैं इसलिये जीव अहंवाच्य है। और दुःखरहित अनन्त सुख तो न प्रत्यक्ष है और न अपनपारूप है, सर्वथा परोक्ष ही रहता है, वेद भी उसे 'नेति नेति' 'यतो वाचो निवर्तन्ते' कहता है इसलिये वह

तद्वाच्य पदार्थ है। इन्हीं तीन पदार्थोंको शास्त्रमें तत्त्व, आत्मा और भगवान् कहा है। तत्का ही एक प्रकार होनेसे तत्त्व कहा गया है। वे इदंवाच्य जगत्तत्त्व २८ हैं, और फिर अनन्त हैं। सारा जड जगत् तत्त्व है। जीव भी जो भगवान्‌का ही एक प्रकार है वह आत्मा है। सारे जगत्‌में फैला हुआ है इसलिये आत्मा है। आनन्द भी लोकसुख व्यष्टि अन्तर्यामी और स्वर्गादिरूपमें फैला हुआ प्रकार ही है। और सच्चिदानन्द आश्रय भगवान् है। यद्यपि सत्-चित्-आनन्द तीनों, तीनोंमें हैं तथापि 'प्रधानाभिहारन्याय' से सत् तत्त्व, चित् आत्मा, और आनन्द भगवान् कहे जाते हैं। आत्मा अनुभवरूप है, चिद्रूप है। यह अनुभवरूप चित्, सच्चिदानन्दके मध्यमें है इसलिये दोनोंके साथ इसका अन्वय रहता है, और अपने साथ भी। अथवा यों कहो कि तीनों तीनोंके साथ अन्वित रहते हैं। नव पदार्थ हो जाते हैं, और फिर अनन्त पदार्थ होते हैं, ये पदार्थमात्रका आधिदैविक स्वरूप हैं। यह प्रविष्टाप्रविष्ट है। 'प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्'।

चित्पदार्थ पृथक् रहते हुए भी तीनोंमें मिला हुआ रहता है। सच्चित्, चिच्चित्, चिदानन्द किंवा सच्चिदानन्द। अनुभवके बिना सत् (जड) की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती। इसी तरह चित्के साथ भी यदि आश्रयरूप चित् न रहे तो चित्की भी सत्ता सिद्ध नहीं होती। 'घटमहं जानामि' 'घटको मैं जानता

---

१ एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥

(श्रीमद्भागवत)

हूँ' इस समझमें तीन पदार्थ ठहरे हुए हैं, घट, अहं और घटका ज्ञान। किन्तु इन तीनोंके साथ एक आश्रयरूप ज्ञान और भी है जिसने इन तीनोंको अपनी गोदमें ले रक्खा है। जिसने इन तीनोंको प्रकाशित करा रक्खा है वह स्वाश्रयाश्रय स्वप्रकाश चिच्चिद्ब्रह्म है। समष्टिरूपसे इसने सारे जगत्को प्रकाशित किया है। घट दृश्य पदार्थ ही यदि न रहता तो किसीको भी हम और ज्ञानकी खबर न पड़ती। और यदि हम द्रष्टा ही कोई पदार्थ दुनियामें न होता तो फिर घट और ज्ञानकी किसीको खबर न होती। और यदि दर्शन (ज्ञान ही) जगत्में कोई वस्तु न बनाया गया होता तो फिर न हमें हमकी और न घटकी ही खबर पड़ती, इसलिये यह सिद्ध है कि तीनोंको तीनोंकी बड़ी अपेक्षा है। किन्तु शास्त्रमें इसे अन्योन्याश्रय-दोष कहा है। 'सापेक्षमसमर्थं भवति' दो नाव यदि आपसमें बाँध दी जायँ तो वे दो रहते भी एक दूसरीकी रक्षा नहीं कर सकतीं। इसी तरह अन्योन्याश्रययुक्त यह ज्ञान भी अपनी सत्ता सिद्ध नहीं कर सकता, अतएव इसे तुरीय ज्ञानकी अपेक्षा हुई। यह ज्ञान स्वाश्रयाश्रय[1], स्वप्रकाश किंवा चिच्चित्

---

१ एक त्रयाणां मध्ये एकतरस्य स्वातिरिक्तस्य अभावाद्धेतोः एक नोपलभामहे, किन्तु भावेनैवोपलभामहे। एकमप्यन्ययोर्भावेन उपलभ्यते न स्वभावेन। तदा सापेक्षमसमर्थं भवतीति न तेषामन्यतरत्त्रितय जातु शक्तः। अन्तर्याम्यपि स्वव्यापारे व्यापृतस्त्रितयमध्ये प्रविष्टो न त्रितय जानाति। एव सति यस्त्रितय वेद स आश्रयः। स आत्मा...। अत एवास्य लीलात्वादात्मा विभूतित्वेन गणितः 'अहमात्मा गुडाकेश'। स तु आत्मानमेवाश्रित्य तिष्ठति न तस्याश्रयान्तरापेक्षा। अनेन स्वप्रकाशः स इत्युक्त भवति। (सुबोधिनी २।१०।९)

(समझकी समझ) कहा जाता है। अनवस्थाके डरसे समझ-को या किसी तरहसे भी इन्हें स्वप्रकाश मानना ही उचित है। कहीं तो जाकर ठहरना ही पड़ेगा, अन्यथा ज्ञानमात्रकी सहस्र वर्षपर्यन्त सिद्धि ही नहीं होगी। जब कहीं तो जाकर ठहरना ही पड़ेगा इसलिये इस तुरीय ज्ञानको स्वाश्रयाश्रय स्वप्रकाश मानना ही उचित है। यदि कोई कहे कि अन्तर्यामी-रूप शुद्ध जीव भी तो देहमें मौजूद है, वह इस ज्ञानको सहारा दे सकता है, फिर इस त्रिचित्‌के माननेकी क्या आवश्यकता है? तो इसका उत्तर इतना ही है कि अन्तर्यामी तन्मध्यपतित होनेसे जीवरूपसे ही ग्रहण किया जाता है इसलिये वह भी उन तीनोंको नहीं जान सकता। अतएव उस स्वाश्रयाश्रय, स्वप्रकाश त्रिचित्‌की अपेक्षा है ही।

इसी प्रकार आनन्दके साथ भी यह चित् (अनुभव) रहता है। आनन्दके साथ यदि अनुभव न रहे तो वह भी अपनी सत्ता सिद्ध नहीं कर सकता। यह बात दूसरी है कि आनन्दकी अनन्तता अगाधता होनेपर अनुभव (चित्) तिरो-भूत हो जाय। सत्, चित् और आनन्द, तीनों ही ब्रह्म हैं अतएव तीनों देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न (नपे-तुले नहीं) हैं। 'सत्यं विज्ञानमानन्दम्' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' दोनों तरहकी श्रुतियाँ इस सिद्धान्तको स्वीकार करती हैं। सृष्टि-अवस्थामें या यों कहो कि प्रकट अवस्थामें पृथक्-पृथक् अनुभवमें आते रहनेपर भी सत्, चित्, आनन्द तीनों अनन्त हैं और सृष्टिके पूर्वापर अवस्थामें अर्थात् अप्रकट अवस्थामें भी तीनों अनन्त हैं। भिन्न होनेपर भी अनन्त हैं, एक रहनेपर भी अनन्त हैं।

पृथक् हुए अनन्त सद्ब्रह्मका एक अंश यह सारा पाञ्चभौतिक जगत् है। पृथक् हुए अनन्त चिद्ब्रह्मका एक अंश यह दुनियाके सारे जीव और समस्त ज्ञान है। और इसी तरह पृथक् हुए उस अनन्त आनन्दब्रह्मका एक अंश अन्तर्यामी स्वर्गादि सुख और यहाँके आनन्द हैं। यह सच्चिदानन्दब्रह्म जिस समय एक, अद्वैत (भेदरहित), सर्वव्यापक और अदृश्य रहता है उस समय तत्, ब्रह्म, पर, परब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम, भगवान्, अक्षर, आत्मा आदि शब्दोंसे कहा जाता है। उस समय अक्षर, आत्मा (जीव), पुरुषोत्तम तीनोंमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता। सृष्टिके पूर्वके समयके लिये जो हम कभी-कभी 'उस समय' ऐसा समय निर्देश करते हैं यह काल्पनिक समझना चाहिये। केवल सृष्टिके पूर्वकी या पीछेकी बातको समझानेके लिये आगे होनेवाले समयको लेकर कह देते हैं। क्योंकि सृष्टि-के पूर्व या पर, कालकी उत्पत्ति (प्रादुर्भाव) ही नहीं होती। इसलिये वहाँकी बात समझानेके लिये कालकी कल्पना कर लेते हैं। सच्चिदानन्द शब्दका यदि हम श्रुत्यनुमोदित भाषान्तर करना चाहें तो कह सकते हैं कि 'त्रिकालाबाधित अनन्तानन्दानुभव' अर्थात् सर्वदा विद्यमान रहनेवाला अनन्त और अन्तःसर्वविशेषसहित जो आनन्दका अनुभव वह सच्चिदानन्द भगवान्। यही ब्रह्मवादका मुख्य ब्रह्म है। अन्तः और बाह्य दोनों प्रकारका रमण (क्रीडा) इसी पुरुषोत्तमका है।

---

१ शक्तिधर्माणामपि तदोद्गतत्याभावेन कालस्यापि निरूपणसमय एव तथा वचनात्। सर्वभवनसमर्थात्स्वरूपादेव चेष्टायत्प्रादुर्भावः कालस्य। (सुबोधिनी २।९।३२)

सूतजीने अपनी समझके अनुसार इसी ब्रह्मको तत्त्व कहा है, और इसीको अद्वैतज्ञान भी कहा है—

> वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
> ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

सूतजी कहते हैं कि जो द्वैतनिवर्तक ज्ञान है वही असल तत्त्व है। उसे ही शास्त्रान्तरोंमें ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् शब्दोंसे कहा है। शब्दोंका ही भेद है, पदार्थ तो सबका एक है। किन्तु श्रीशुक ब्रह्मका यह मत नहीं है, उनके मतमें यह तत्त्व (सार-पदार्थ) श्रीपुरुषोत्तम भगवान्का एक ज्ञानरूप अंश है। जिसको हमने पूर्वमें 'चिच्चित्' शब्दसे कहा है। द्वितीय स्कन्धमें श्रीशुकदेवजीने इस अद्वय ज्ञानका इस प्रकार निरूपण किया है—

> विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक्सम्यगवस्थितम् ।
> सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥

अर्थात् श्रीपुरुषोत्तमका यह ज्ञानांश (चिच्चित्) विशुद्ध है, असहाय शूर है, अतिगूढ है, जैसा है वैसा ही उत्तम है, अपने स्वरूपमें ही स्थित है, सर्वदा एकरूप है, पूर्ण है, उत्पत्ति-प्रलयरहित है, निर्गुण है, नित्य है और सच्चिदानन्द रहते भी अद्वय है। अभिन्न है, एक ही है, ज्ञानरूप ही है। सूतजीका अद्वय ज्ञान और श्रीशुकदेवजीका यह विशुद्ध ज्ञान ही पुरुष-शब्दवाच्य है। शास्त्रोंमें अन्यत्र-अन्यत्र इसीको पुरुष भी

---

१ अद्वितीय ज्ञानमिति, द्वैतनिवर्तकं ज्ञानं तत्त्वमित्यर्थः। तस्यैव नामभेद इत्याह ब्रह्मेति—ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति। शब्द-मात्रं भिद्यते न स्वरूपभेदोऽस्ति। (सुबोधिनी १ । २ । ११)

कहा है। पुरुष अनेक हैं। वेदमें पुरुषोत्तम अन्तर्यामी और अक्षर ब्रह्मको भी पुरुष कहा है। किन्तु यह पुरुष अक्षरका अंश रहते भी उन तीन प्रधान पुरुषोंसे भिन्न है। पुरुष शब्दकी अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं, 'पुरा आसेति' 'पुरि वसतीति' 'पुरमुषतीति' आदि। यह पुरुष पुरको अपना रूप देनेसे पुरुष कहा गया है। अष्टाविंशति तत्त्वोंसे पुर (ब्रह्माण्ड-पिण्ड) बनाकर आप ही उसमें निवास करने लगा और उसे अपने भीतर कर लिया। तब (भाविनी संज्ञाको लेकर यह पुरुष संज्ञा है) इसलिये पुरुष कहा गया 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' यह पुरुष अक्षर ब्रह्मका ही एक अंश है। एकादश स्कन्धमें जहाँ अक्षर ब्रह्मसे या पुरुषोत्तमसे सृष्टिके प्रारम्भका निरूपण है वहाँ कहा है कि—

तन्मायाफलरूपेण द्विधा समभवद्बृहत्।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते।

अर्थात् वह अक्षर ब्रह्म माया (प्रकृति) और फल (ज्ञान) रूपसे दो प्रकारका हो गया। उनमें एक भाग प्रकृति और दूसरा भाग जो ज्ञान, वह पुरुष कहा जाता है। यही पुरुष किसी कल्पमें जीव और अन्तर्यामी दो रूप बनाकर ब्रह्माण्ड किंवा पिण्ड (शरीर) में प्रवेश करता है। और किसी कल्पमें पहले शरीरमें प्रवेश करता है और अनन्तर दो रूप हो जाता है। सृष्टिमें आनेके पहले, प्रवेशके पहले और 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस अनुप्रवेश और नामरूप व्याकरण (विवेक) के पहले, जो पुरुषका विशुद्ध अचिन्त्य अक्षर ब्रह्मात्मक

स्वरूप है उसे ही तत्त्व, उसे ही विशुद्ध ज्ञान, उसे ही द्वितीय अक्षर, उसे ही पुरुष, उसे ही चिच्छित् और उसे ही स्वाश्रयाश्रय कहते हैं। यही पुरुष सारी सृष्टिका उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकर्ता है। क्रमसृष्टिमें धीरे-धीरे विविध रूप धारण करता हुआ यही भगवान् जगत्की साक्षात् उत्पत्ति, स्थिति और संहार करता है। परन्तु यह पुरुष अक्षर पुरुषोत्तमात्मक है। तदंश है। भा० द्वि० विमर्शाध्यायके प्रारम्भमें राजा परीक्षितने पूछा कि—

> या या शक्तिमुपाश्रित्य पुरुशक्तिरयं पुमान्।
> आत्मानं क्रीडयन् क्रीडन् करोति विकरोति च॥

हे ब्रह्मन्! भगवान् किसको पैदा करता है। अपने-आपको? यदि अपने-आपको पैदा करता है तो अकेले आत्माको पैदा करता है या शक्तिसहित आत्माको? शक्तिसाहित्यमें भी प्रश्न है कि उत्पत्तिमें प्राधान्य आत्माको रहता है या शक्तियोंको या दोनोंको? एक कार्यमें एक ही शक्तिका उपयोग करता है या दो-चारका? और आत्माको एक ही रूप बनाता है या विविध रूप? विविध रूपोंमें भी विरुद्ध रूप या अनुकूल ही रूप? और अपनी आत्माको क्रीडा कराता हुआ किसी औरको पैदा करता है या अपने-आप ही खेलता हुआ अपने-आपको ही सब कुछ कर लेता है?

---

१ अत्र प्रष्टव्य पदार्थाः ष.। किं केवल आत्मा, शक्तिसहितो वा। साहित्येऽपि किमात्मैवोत्पद्यते, शक्तिरेव वा। एकस्यां कार्ये वा शक्तिमुपाश्रित्य पुनर्द्वितीयमहतीं वा शक्तिमिति। यतः पुरुशक्तिः। ····· विरुद्धमपि करोति, न करोति, विविधं वा करोति। आत्मानमेव क्रीडयन् ······अथवा क्रीडन् आत्मानमेव करोतीति। (सुबोधिनी २।४।७)

इसके उत्तर देते हुए श्रीशुकदेवजी, परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करते हैं। सर्व सन्देहोंको दूर करनेकी सामर्थ्य देनेवाला भगवान् ही है इसलिये बुद्धिप्रेरक कृष्णका स्मरणकर उसको नमस्कार करते हैं। इन्हीं नमस्कारोंमें ही सर्वभागवतके सिद्धान्तका सार भी कह देते हैं। यह नमस्कार द्वितीय स्कन्धके प्रारम्भमें करना उचित था क्योंकि प्रथम स्कन्धके अन्तमें राजाका प्रश्न हो चुका था और द्वितीयके प्रारम्भमें श्रीशुकदेवजीने उत्तर देनेका प्रारम्भ किया था परन्तु उस समय राजाने भगवत्सम्बन्धी प्रश्न नहीं किया था और अब भगवत्सम्बन्धी प्रश्न किया है अतएव भागवतका प्रारम्भ होता है इसलिये यहाँ ही स्वेष्टदेवतानमस्कार उचित है।

नम परस्मै पुरुषाय भूयसे सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिनामन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने॥

भगवान् पुरुषोत्तमके अनेक रूप हैं। उनमें दो प्रधान हैं। एक अन्तःक्रीडास्वरूप और दूसरा बाह्यक्रीडास्वरूप। दोनों सार्वदिक हैं। अन्तःक्रीडा भी सर्वदा है और बाह्यक्रीडा भी सर्वदा है। यह बाह्य आन्तरभाव जीव दृष्टिसे है। भगवत्स्वरूपमें बाह्य-आन्तर-भेद नहीं है। आन्तरक्रीडास्वरूप भक्त्यैकलभ्य है, उसका निरूपण तीसरी नमस्कारमें है। और यह बाह्यक्रीडाके पूर्वका स्वरूप है। यह उसी पुरुषोत्तमका दूसरा स्वरूप है। यह प्रधान अक्षर ब्रह्म है, भगवच्चरणारविन्द है, भगवान् है। पुरुषोत्तमका और इसका अभेद है। यही भगवान् पाँच रूप धारण करता है और उन्हीं पाँचों रूपोंका इस प्रथम नमस्कारमें निरूपण है। इसी भगवान्की 'सर्गादि' दश लीलाओंका

वर्णन श्रीमद्भागवतमें है इसलिये इसे प्रथम नमस्कार किया है। अनन्तानन्द विविध विशेषयुक्त वह पुरुषोत्तम जब बाह्य रमण करना चाहता है, जब श्रुतिशास्त्रोंको सार्थकता देना चाहता है, जब वह अपनी सत्ता सिद्ध कराना चाहता है, जब अपने स्वरूपका आप ही आनन्द लेना चाहता है अर्थात् जब वह जगत्की रचना करना चाहता है तब सबसे पहले मूलरूप धारण करता है। यह मूलरूप चरणारविन्द अक्षर है। सर्वत्र प्रविष्ट रहनेसे इसे विष्णु और महाविष्णु भी कहा है। वह सबका मूल था, यह सृष्टिका मूल है। दोनों मूलरूप हैं। सृष्टि भी दोनोंसे होती है। तदनन्तर इसी मूलरूपको सृष्टि, स्थिति, प्रलय, भोग और मोक्ष देनेके लिये मूल समष्टि-व्यष्टि अन्तर्यामी और फलरूप बनाता है। अर्थात् उस प्रधानाक्षरका पहला रूप मूल है, दूसरा समष्टि पुरुष (ब्रह्माण्डसहित) भगवान्। तीसरा व्यष्टि (अनन्त दोनों तरहके जीव पिण्ड), चौथा अन्तर्यामी और पाँचवाँ (समष्टि-व्यष्टि) फल। यह मूल सृष्टिके पूर्व असङ्ग, उदासीन, अव्यय रहता है। इसका पूरा वर्णन हम पूर्वमें 'विशुद्धं केवलं ज्ञानम्' 'ज्ञानं त्वन्यतमो भावः' श्लोकोंमें कर चुके हैं। यही फिर सशरीर साकार होता है तब पुरुष कहा जाता है। यह भगवान् पुरुषोत्तमका पहला आविर्भाव है इसलिये इसे आद्य अवतार कहा गया है। 'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य' मूलरूपका पहला अवतार पुरुष है।

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥

भगवान् मूलरूपने पहला अवतार पुरुषरूप ग्रहण किया। ब्रह्माण्डरूप पुरुषाकार ग्रहण करनेसे पुरुष कहे गये। यद्यपि ब्रह्माण्डको भी पुरुषाकारता इन्हींके आकारसे मिली है तथापि ये पुरको अग्निरूप बना देते (अपना रूप दे देते) हैं इसलिये पुरुष कहे जाते हैं। 'पुरमुषतीति पुरुषः'। भगवान् जिसको अपना प्रवेशस्थान (शरीर) बनाता है उसे अपना रूप कर लेता है। लोहगोलकमें जब अग्नि प्रवेश करता है तो गोलेको भी अग्निरूप दे देता है। यह सृष्टि प्राथमिक है इसलिये सर्व कार्य करनेमें समर्थ कोई दूसरा अधिकारी जीव था नहीं इसलिये स्वयं भगवान् ही (मूल पुरुष ही) पुरुषरूप हुए। इस सृष्टिमें भी प्राकृतिक सृष्टिकी तरह सब पदार्थ होते हैं किन्तु वे प्राकृत नहीं किन्तु अप्राकृत, आधिदैविक, ब्रह्मात्मक होते हैं। महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा, एकादश इन्द्रिय

---

१ अत्र तादृशाधिकारिजीवस्याभावात्स्वयमेव पुरुषो जातः।··· तत्र द्वितीयमाह तप्तायःपिण्डमिव। अण्डजत्वादन्तरेव सर्वनिर्माण सर्वस्यापि मुक्तिदानार्थम्। शुद्धसत्त्वात्मक शरीरमिव पुरुषरूप तत्त्वैर्निर्मित स्वय गृहीतवान्। अप्सु बीजब्रह्माण्डवैलक्षण्यामाह—महदादिभिरिति। महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राभिः सप्तभिः। एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि च षोडशकलाः। एव प्राकृतिको गणस्त्रयोविंश.। अस्या सृष्टौ प्रकृतिपुरुषौ स्वयमेव। इय हि आद्या सृष्टिः। द्वितीयादिसृष्टयधिकारिपुरुषाणा सुलभत्वात्। लोकास्तु स्वोदरस्थिताः। तेषां सृष्टिः उदरे च स्थितिर्द्वय यथा भवति तथा करणार्थं ब्रह्माण्डदेह. परिगृहीतः। (सुबोधिनी १।३।१) तत्र यो वैराज. पुरुषो द्वितीयपुरुषरूपो यः सर्वत्र शास्त्रे प्रसिद्धः असावित्यनुभवसिद्धश्च स एव विराट् शरीरे प्रविष्टः न तु जीवविशेषः अत्। (सुबोधिनी २।१।२५)

और पाँच महाभूत, इस तरह एकविंश पदार्थोंके समूहका शरीर बनाकर उसमें आप स्वयं प्रविष्ट हुआ। इस सृष्टिमें प्रकृति और पुरुष दोनों ब्रह्मरूप हैं। सृष्टिके प्रारम्भमें सबसे पहले ब्रह्मकल्प (समयका लंबा टुकड़ा) होता है। उस कल्पमें सारी सृष्टि ब्रह्मरूप होती है। काल, शक्ति, धर्म, प्रकृति, पुरुष, ब्रह्मा, महत्तत्त्वादि सब पदार्थ भगवान् ही होते हैं। आधिदैविक जगत्, आध्यात्मिक जगत् और आधिभौतिक जगत्, तीनों प्रकारके जगत्में 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' न्यायसे सब पदार्थ होते हैं। तीनों जगत्में माया रहती है, तथापि तीनोंमें भेद है। तीनों जगत्में मायाके स्वरूप और कार्य पृथक्-पृथक् रहते हैं। एक इस प्राथमिक जगत्का ब्रह्मसे सर्वथा अभेद है। श्रुतियोंमें इसका वर्णन है—

'तदात्मानं स्वयमकुरुत।' 'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः।'

भागवतमें भी—

'अहमेवासमेवाग्रे', 'द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।'

—इत्यादि द्वितीय स्कन्धमें प्रायः एकदम भगवदभिन्न जगत्का निरूपण है। 'इदं हि विश्वं भगवानिवेतरः' इत्यादि प्रथम स्कन्धमें भी भगवदभिन्न जगत्की सूचना की है। तीन प्रकारके अधिकारियोंको तीन प्रकारसे जगत्का भान होता है। उत्तम अधिकारियोंको केवल शुद्ध ब्रह्म ही—भगवान् ही जगत् दीखता है। और मध्यम अधिकारियोंको 'इदं विश्वं भगवानिव इतरः' यह सारा दूसरा भगवान्-जैसा दीखता है। अर्थात् कुछ भेद भी और अभेद भी। तीसरे कनिष्ठ अधिकारियोंको 'इदं विश्वम्, भगवान् इतरः' यह जगत् है और यह भगवान् (ब्रह्म) उससे पृथक् है।

प्रथम जगत् आधिदैविक प्रपञ्च केवल विस्तारमात्र है, वहाँ त्याज्य पदार्थ नहीं है। ग्राह्य-ही-ग्राह्य है। सर्व आश्रय-ही-आश्रय है। उस समय सब कार्य भगवान्‌से ही चलते हैं। ब्रह्माने विचारपूर्वक देखकर भी भगवदवयवोंके सिवा अन्य पदार्थ ही जब न देखे तो फिर उन भगवदवयवोंसे ही यज्ञ किया।

पूर्वोक्त ज्ञानप्रधान पुरुषरूप भगवान्‌ने अपने सृज्य पदार्थ (जगत्) की वीक्षा (विचार) करके सबसे पहले अपने सत्-चित्-आनन्द-धर्मोंका पृथक्-पृथक् और उत्कर्षापकर्षरूपसे आविर्भाव किया। उत्पन्न हुए वे तीनों धर्म धर्मीरूप हुए। अतएव उनकी शक्तियाँ भी पृथक्-पृथक् और उत्कर्षापकर्ष-पूर्वक प्रकट हुईं। और तदनन्तर उन दोनोंसे कार्यका प्राकट्य हुआ। अर्थात् वह ज्ञानप्रधान सच्चिदानन्द भगवान् ही धर्मरूप, शक्तिरूप और कार्यरूप हो गया। यही सबका उपादान, यही कर्ता और यही सबका करण भी है। इस सृष्टिमें सर्व विभक्तियों-

---

१ भगवान् स्वधर्मरूपः प्रथम भवति। पश्चाच्छक्तिरूपः कार्यरूपश्च (सुबो० १।१०।२०)। उपादानत्व करणत्व कर्तृत्व स्वस्यैवेत्याह, आत्मा स्वयमेव कर्ता। आत्मनि स्वस्मिन्नेवाधिकरणे। आत्मना स्वेनैव करणेन। आत्मान विश्वरूप स्वयमेव कर्म। अनेन अन्येऽपि विभक्त्यर्थाः ज्ञातव्याः। न केवलमुत्पादयति, सयच्छति मारयति, पाति रक्षति। युक्तिस्त्वत्र महायोगसिद्धो वाह्यसाधनव्यतिरेकेण स्वेच्छया वहुरूपो भवति। भगवति तु योगादिकमपि नापेक्ष्यते। सर्वसामर्थ्ययुक्त स्वरूपमेव तथाभूत यतः। (सुबो० २।६।३८)। द्रष्टा हि कार्य कर्तु शक्यम्। न हि ज्ञानमात्रेण कर्तु शक्यमित्याह—ईशः समर्थः सर्व कर्तुम्।

का अर्थ, प्रकार, सब कुछ यह पुरुष ही है। यही बात श्रीशुकदेवजीने 'नमः परस्मै' इस नमस्कार-श्लोकमें 'भूयसे' शब्दसे कह दी है अर्थात् यह पुरुष ही अनेक रूपसे फैल गया। ज्ञानप्रधान होनेसे यह पुरुष द्रष्टा भी है। द्रष्टाके विना कार्यकी उत्पत्ति, स्थिति और निरोध होना असम्भव है। लोकमें कितने ही ज्ञाता होकर भी कृतिशक्ति न होनेसे कार्य करनेमें असमर्थ होते हैं किन्तु यह पुरुष ईश भी है अर्थात् सर्व कार्य करनेमें समर्थ है। क्रियाज्ञानशक्ति रहनेपर भी यदि लौकिक पुरुषोंकी तरह[१] क्रियाका आवेश आ जाय तो आत्मामें विकार होनेकी सम्भावना है इसलिये कहते हैं कि यह पुरुष निर्विकार रहकर ही सर्व पदार्थोंको पैदा करता है। कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणिसे अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं किन्तु वे स्वयं विकृत नहीं होते।

---

१ ननु क्रियाज्ञानशक्तिमत्त्वेऽपि व्यापारावेशे लौकिकवत्क्लेशसम्भवादात्मनो विकृतत्वापत्तेर्भगवतः कर्तृत्वं न सम्भवतीत्याशङ्क्याह— कूटस्थस्य। स हि सर्वं करोति कूटस्थ एव न तु विक्रियते। यथा कामधेनुः कल्पवृक्षश्चिन्तामणिर्वा, योगी वा मनसा सृजति। ननु भगवान् सृष्टिं नार्हति कर्तुम्। प्रयोजनविरोधात्। स हि स्वार्थं वा जीवार्थं वा करोति। स्वार्थे करणे जीवानामनुत्पादनं स्यात्। ततो भक्तिमार्गो विरुध्येत। सर्वेऽपि मार्गा विरुध्येरन्। बन्धमोक्षाद्यभावात् वैचित्र्यमज्ञानं च न स्यात्। अत उभयार्थं जीवार्थं वा कर्तव्यमिति मन्तव्यम्। तत्र स्वांशे स्वस्यानन्दपूर्णत्वं भज्येत। परार्थत्वे वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयातां अत आह—अखिलात्मनः। अखिलानामात्मा। आत्मसृष्टेर्न वैषम्यादि। आनन्दादिविरोधस्तु नास्ति। अखिलत्वात्। यथा खिला आत्मानो न भवन्ति केनाप्यंशेन। एवं स्वस्य यः पूर्ण आनन्दस्तस्याप्यात्मा।

(सुबो० २।५।१७)

फिर भी यहाँ एक प्रश्न होता है कि भगवान्‌को जगत् बनानेका क्या प्रयोजन है? क्या वह अपने लिये जगत् बनाता है? यदि अपने लिये सृष्टि करता है तो फिर जीवको उत्पन्न करनेकी क्या आवश्यकता थी। और यदि जीव ही न बनाये जायँ तो फिर भक्ति, ज्ञान, कर्मादि मार्ग, बन्धमोक्ष और शास्त्रादि सबकी निरर्थकता आ जाती है। यदि कहो, अपने और जीव दोनोंके लिये जगत् बनाया जाता है तो भी शंका होती है कि अपने लिये तो कोई भी कार्य तब किया जाता है जब कोई अपेक्षा हो या आनन्दमें कुछ कमी हो। यदि ऐसा हो तो फिर भगवान्‌के आनन्दमें अपूर्णता आवेगी। और जीवके लिये बनानेमें भी भगवान्‌में वैषम्य और निर्दयता दोष आते हैं। इसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवान् अखिलात्मा हैं। अखिलात्माके दो समास करने उचित हैं। अखिलानां आत्मा। न खिलः अखिलः अखिलः आत्मा यस्य सः। सारे जीवोंका भी मूलद्रव्य यही पुरुष है अर्थात् आप ही सारी सृष्टि हो गया है। जब आप ही सब कुछ हो गया है तब वैषम्य, नैर्घृण्य दोष कैसे? हम अपने पैरोंसे चलते है और मुखको दूध पिलाते है इसमे हमें कोई भी विषम या निर्दय नहीं कहता। क्योंकि हमारे सिवा दूसरा कोई है ही नहीं। इसी तरह इस प्राथमिक सृष्टिमें भगवान् ही सब कुछ है, अन्य है ही नहीं। अतएव वैषम्य, नैर्घृण्य दोष नहीं हो सकते। आनन्दमें अपूर्णता भी नहीं आती, क्योंकि उसका स्वरूप ही स्वभावसे है, पूर्ण है।

भगवान्‌ने स्वयं प्रकट होकर ब्रह्माजीसे

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥
(श्रीमद्भा० २ । ९ । ३३)

ब्रह्माके प्रश्नके उत्तरमें भगवान् आज्ञा करते हैं कि हे ब्रह्मन् ! ले यह विज्ञानसहित ज्ञान, मै तुझे देता हूँ, ग्रहण कर। एकको ही विविधरूपसे देख लेना विज्ञान कहा जाता है और विविधको एकरूप देख लेनेको ज्ञान कहते हैं। ज्ञान और विज्ञानमें जब वस्तुकी एकता ठहर जाती है तब वह सिद्धान्त पूर्ण कहा जा सकता है अन्यथा नहीं।

भगवान् अपने जिस रूपको जगत् बनाते हैं सबसे पहले उसका निरूपण करते हैं—अहमेव आसमेव। हे ब्रह्मन् ! सबसे पहले मैं था ही और मैं ही था। और मैं ही जगद्रूप हो गया हूँ। जगत्में मेरे सिवा कुछ नहीं है। मेरे रूपमें जो कुछ अन्यथा भान हो रहा है यह सब मेरी माया (सर्वभवन-सामर्थ्य और मोहिनी) का प्रभाव है। मैं ही जगत् हो गया हूँ। तुम्हें मेरे स्वरूपसे जुदा जो कुछ दीख रहा है यह मेरी मायासे दीख रहा है। देहादि पदार्थ भगवान्से जुदे हैं, उनमें जीव भी जुदा ही है जैसे घटादिके मध्यमें आकाशकी प्रतीति होती है। आधार और आधेय तथा उनका धर्म एवं बाह्य और आभ्यन्तरभावका कारण भी मैं ही हूँ। स्वरूपसे मूलभूत

---

१ यादृग्रूपं भगवान् जगत्करोति तच्छिक्षाया प्रार्थितम्। तत्राह—अहमेव तद्रूपो जातः नान्यदिति। अन्यथाभानं च मन्माययेति। जडे देहादौ मध्ये जीवप्रतीतिश्च घटादावाकाशप्रतीतिवत्। आधाराधेयभावो बाह्याभ्यन्तरभेदहेतुश्चाहमेवेति। स्वरूपतो मूलभूत जगत्, प्रतीतितो माया-

(आधिदैविक) जगत्, और प्रतीतिसे मायारूप जगत्, उसमें प्रवेश करनेवाला दोनों तरहका जीव, इस तरह यह सारा जगत् मैं (भगवान्) ही हूँ यह समझना उचित है। अर्थात् जडजीवप्रतीति और माया प्रभृति सब पुरुषोत्तम है यह पूर्ण ज्ञान है—

रूपम्, अनुप्रवेशको जीव इति सर्वे जगत्सर्वप्रकारेणाहमेवेति ज्ञात्वा स्वस्वरूपमपि तथा मन्तव्यम्। इयमेव शिक्षा। सर्वे जगत्कथ भगवानित्याकाङ्क्षायां तज्जलानिति हेतु विस्तरेण वदति। सृष्टेः पूर्वे अहमेव 'एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः' 'वासुदेवो वा इदमग्रे आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः' इति श्रुतेः, सृष्टेः पूर्वमहमेव। मत्तोऽपि पूर्वमिति नाशङ्कनीयम्। यथा जगतः पूर्वमहम्, मत्तोऽपि पूर्वमन्यदिति तदा भवेत् यदि कदाचिदप्यह नासम्। तत्तु मम न सम्भवति। सद्रूपेणैव निरूपणात्। 'सदेव सौम्येदं' 'एकमेवाऽ' इति श्रुतेरासमेव। अग्रे सृष्टेः पूर्वम्। 'असद्वा इदम्' इत्यादीनाम्, पश्चात्प्रतीयमानजगतः पूर्वमेतादृशरूपेणानवस्थितत्वप्रतिपादकत्वात्। अन्यथा असतः सत्ताबोधकत्वे विरोधात्। 'नासतो' इति वाक्यविरोधात्। 'नासदासीन्नो' इत्यादेस्तु स्थूलसूक्ष्मकार्यपरत्वम्। 'आपो वा इदमग्रे सलिलम्' इति त्ववान्तरकल्पाभिप्रायेण। 'अव्यक्तादीनि' इति तु अव्यक्तरूप ब्रह्मैव। लीनत्वकल्पकस्य पश्चादेव सिद्धेः पूर्वलीनत्वम् सिद्ध्यति। अनेन 'प्रकृतिं पुरुषं चैवेत्यपि निरस्तम्। मतान्तरत्वात्। 'आसीज्ज्ञान-' मिति वाक्यविरोधाच्च। 'तम आसी' दिति तमो ब्रह्मैव, सर्वतः सुप्तत्वेन साम्यात्। अत एव श्रुतिसिद्धत्वादन्यानि तत्काले निषेधति 'नान्यत्'। सच्छब्देनासच्छब्देन च ब्रह्मैवोच्यते। योऽस्मात्परस्माच्च परः परशब्देनापि न कालादिरुच्यते, किन्त्वहमेव। किञ्च पश्चादहम्, सर्वभवनसमर्थात्स्वरूपादेव चेष्टावत्प्रादुर्भावः कालस्य। पश्चाद् गुणरूपेण शक्तिरूपेण कार्यरूपेण 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' इति श्रुतेः। जीवजडात्मक सर्वमहमेव। अय मुख्यो ब्रह्मवादः। (सुबो० २।९।३२)

एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः ।
वासुदेवो वा इदमग्र आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः ॥

–इत्यादि श्रुतियाँ कह रही हैं कि सृष्टिके उत्पन्न होनेके पहले यह सारा जगत् नारायण था, वासुदेव था। उस समय न ब्रह्मा थे और न शङ्कर थे। प्रतिनियत नामरूपसे कुछ भी न था। और था तो सब कुछ था एक था सद्रूप था। ब्रह्मसे पूर्व तो कोई तब हो सकता है जब वह कभी भी न हो, किन्तु ऐसा कभी नहीं था 'अहम् आसमेव' 'मैं परब्रह्म सबसे पहले था ही।' यह जगत् भी था ही किन्तु एकरूप, ब्रह्मरूप, सद्रूप था।

यदि कोई कहे कि 'असद्वा इदमग्रे' यह श्रुति, पहले कुछ नहीं था कह रही है तो इससे मालूम होता है कि सृष्टिके पूर्व ब्रह्म भी नहीं था। तो इसका उत्तर इतना ही है कि पूर्वोक्त श्रुतिका यह आशय नहीं है। वह तो कह रही है कि आपलोग जिस जगत्को प्रतिनियत रूपनाम देख रहे हो अथवा जैसा कुछ देख रहे हो सृष्टिके पूर्वमें यह वैसा नहीं था, एकरूप था, ब्रह्मरूप था।

कितने ही कहते हैं कि 'नासदासीन्नो सदासीत्' यह श्रुति कह रही है कि सृष्टिके पूर्वमें न सत् था और न असत् था, अर्थात् सदसद्विलक्षण कोई पदार्थ रहा होगा। तो इसका उत्तर यह है कि नहीं, यह श्रुति तो कह रही है कि प्रतिनियत रूपनामसे न सत् (स्थूल पदार्थ) था और न असत् (सूक्ष्म पदार्थ) था, अर्थात् अज्ञेय, अमेय एक ब्रह्म था। यदि कहो कि 'आपो वा इदमग्रे' इस श्रुतिमें सबसे पहले

जलका होना कहा है तो इससे स्पष्ट है कि सृष्टिके पूर्व ब्रह्मके सिवा जलादि पदार्थ भी था। तो इसका उत्तर यह है कि यह बात सबसे पहले सर्गकी नहीं है किन्तु बीच-बीचमें अवान्तर कल्पोंमें जो सृष्टि हुआ करती है, उसके पूर्वकी बात है। सर्वप्रथम सृष्टिमें तो एक ब्रह्म ही था।

यदि 'अव्यक्तादीनि भूतानि' इस गीतावाक्यको देखकर कहो कि सृष्टिके पूर्वमें ब्रह्मके सिवा एक अव्यक्त पदार्थ और भी था तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इस श्लोकमें तो अव्यक्त शब्दसे अक्षर ब्रह्मका ही निर्देश है। गीतामें ही अन्यत्र 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः' आदि वचनोंमें अव्यक्त शब्दका अक्षर ब्रह्म अर्थ किया है। यदि कहो कि गीतामें तो 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि कहे हैं तो फिर आपका 'सर्वं ब्रह्म' यह वाद कहाँ गया? तो इसका इतना ही उत्तर है कि यह मत तो सांख्यका है। भगवान्ने विचारके लिये उसे वहाँ दिखाया है। अन्यथा 'आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्' आदि वचनोंका विरोध आवेगा।

श्रीमद्भागवतमें कहा है कि सृष्टिके पूर्वमें एक ज्ञानप्रधान अक्षर ब्रह्मरूप पुरुष ही था और वही फिर प्रकृतिपुरुषरूप हो गया। प्रकृतिपुरुषको ब्रह्मरूप मानकर यदि अनादि मानते हो तो कोई दोष नहीं है। 'तम आसीत्तमसागूढमग्रे प्रकेतम्' आदि श्रुतियाँ भी तमः शब्दसे परब्रह्मको ही कह रही हैं। परब्रह्म ही सृष्टिके पूर्व सुप्तशक्ति होनेसे शून्यतुल्य, तम-तुल्य मालूम होता है इसलिये उसे तमः शब्दसे कहा गया

है। इस तरह सृष्टि-अवस्थामें ब्रह्मको ही अनेक नामोंसे निर्देश करनेवाले वाक्य, सबसे पूर्व परब्रह्मके ही एक रहनेमें बाधक नहीं हो सकते। सद् शब्दवाच्य असत् शब्दवाच्य तथा पर शब्दसे कहने लायक और कोई भी पदार्थ सृष्टिके पूर्वमे था ही नहीं। सत्, असत् और पर तीनों शब्दोंसे प्रसिद्धमें ही एक केवल सृष्टिके पूर्वमें था —

नान्यद्यत्सदसत्परम्। पश्चाद् अहम् यदेतत् च (तदपि अहम्)

उसके बाद जब सृष्टिका प्रारम्भ हुआ तब भी मैं ही अनेक रूपोंसे प्रकट हुआ। सबसे पहले पुरुषकी चेष्टारूप कालका प्रादुर्भाव हुआ। तदनन्तर सत्, चित्, आनन्दरूपसे (गुण या धर्म) भगवान् पृथक्-पृथक् अनन्तरूपमे प्रादुर्भाव हुआ। उसके उन तीनों अंशोंकी शक्तियाँ प्रकट हुईं। सत्की क्रिया, चित्की मोहिनी और आनन्दकी सर्वभवनसामर्थ्य। तदनन्तर इन दोनोंके सम्मेलनसे अनेक कार्यरूपमें पुरुष ही फैल गया। चकारसे और भी जो कुछ बाकी रह गया हो वह सब कुछ मै (ब्रह्म) ही उस रूपमें विद्यमान हूँ यह निश्चय समझ रखना चाहिये। इस तरह यह ब्रह्मकल्पमें ब्रह्मरूप सर्ग हुआ है। इसमें ब्रह्ममें और जगत्में अणुमात्रका भी भेद नहीं है। त्याज्य अंश कुछ भी नहीं है, सब भगवान्-ही-भगवान् है अतएव यह मुख्य ब्रह्मवाद है।

व्यतिरेकसे यदि विचार किया जाय तो सर्गप्रलयान्तमें क्या बाकी रहता है यह बात भी अन्यत्र कही है—

नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने
महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु।

जलका होना कहा है तो इससे स्पष्ट है कि सृष्टिके पूर्व ब्रह्मके सिवा जलादि पदार्थ भी था। तो इसका उत्तर यह है कि यह बात सबसे पहले सर्गकी नहीं है किन्तु बीच-बीचमें अवान्तर कल्पोंमें जो सृष्टि हुआ करती है, उसके पूर्वकी बात है। सर्वप्रथम सृष्टिमें तो एक ब्रह्म ही था।

यदि 'अव्यक्तादीनि भूतानि' इस गीतावाक्यको देखकर कहो कि सृष्टिके पूर्वमें ब्रह्मके सिवा एक अव्यक्त पदार्थ और भी था तो यह भी ठीक नही है क्योंकि इस श्लोकमें तो अव्यक्त शब्दसे अक्षर ब्रह्मका ही निर्देश है। गीतामें ही अन्यत्र 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः' आदि वचनोंमें अव्यक्त शब्दका अक्षर ब्रह्म अर्थ किया है। यदि कहो कि गीतामें तो 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि कहे हैं तो फिर आपका 'सर्वं ब्रह्म' यह वाद कहाँ गया? तो इसका इतना ही उत्तर है कि यह मत तो सांख्यका है। भगवान्ने विचारके लिये उसे वहाँ दिखाया है। अन्यथा 'आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्' आदि वचनोंका विरोध आवेगा।

श्रीमद्भागवतमें कहा है कि सृष्टिके पूर्वमें एक ज्ञानप्रधान अक्षर ब्रह्मरूप पुरुष ही था और वही फिर प्रकृतिपुरुषरूप हो गया। प्रकृतिपुरुषको ब्रह्मरूप मानकर यदि अनादि मानते हो तो कोई दोष नहीं है। 'तम आसीत्तमसामूढमग्रे प्रकेतम्' आदि श्रुतियाँ भी तमः शब्दसे परब्रह्मको ही कह रही हैं। परब्रह्म ही सृष्टिके पूर्व सुप्तशक्ति होनेसे शून्यतुल्य, तम-तुल्य मालूम होता है इसलिये उसे तमः शब्दसे कहा गया

है। इस तरह सृष्टि-अवस्थामें ब्रह्मको ही अनेक नामोंसे निर्देश करनेवाले वाक्य, सबसे पूर्व परब्रह्मके ही एक रहनेमें बाधक नहीं हो सकते। सद् शब्दवाच्य असत् शब्दवाच्य तथा पर शब्दसे कहने लायक और कोई भी पदार्थ सृष्टिके पूर्वमें था ही नहीं। सत्, असत् और पर तीनों शब्दोंसे प्रसिद्धमें ही एक केवल सृष्टिके पूर्वमें था —

नान्यद्यत्सदसत्परम्। पश्चाद् अहम् यदेतत् च (तदपि अहम्)

उसके बाद जब सृष्टिका प्रारम्भ हुआ तब भी मैं ही अनेक रूपोंसे प्रकट हुआ। सबसे पहले पुरुषकी चेष्टारूप कालका प्रादुर्भाव हुआ। तदनन्तर सत्, चित्, आनन्दरूपसे (गुण या धर्म) भगवान् पृथक्-पृथक् अनन्तरूपमें प्रादुर्भाव हुआ। उसके उन तीनों अंशोंकी शक्तियाँ प्रकट हुईं। सत्की क्रिया, चित्की मोहिनी और आनन्दकी सर्वभवनसामर्थ्य। तदनन्तर इन दोनोंके सम्मेलनसे अनेक कार्यरूपमें पुरुष ही फैल गया। चकारसे और भी जो कुछ बाकी रह गया हो वह सब कुछ मैं (ब्रह्म) ही उस रूपमें विद्यमान हूँ यह निश्चय समझ रखना चाहिये। इस तरह यह ब्रह्मकल्पमें ब्रह्मरूप सर्ग हुआ है। इसमें ब्रह्ममें और जगत्में अणुमात्रका भी भेद नहीं है। त्याज्य अंश कुछ भी नहीं है, सब भगवान्-ही-भगवान् है अतएव यह मुख्य ब्रह्मवाद है।

व्यतिरेकसे यदि विचार किया जाय तो सर्गप्रलयान्तमें क्या बाकी रहता है यह बात भी अन्यत्र कही है—

नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने
महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु।

व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते
भवानेकः शिष्यतेऽशेषसंज्ञः ॥

ब्रह्माकी आयु जब पूरी हो जाती है तब प्रतिसञ्चर होने लग जाता है। उस समय सब कार्य अपने-अपने कारणोंमें मिल जाने लगते हैं। यह प्रतिनियत रूपनाम सारा जगत् अपने कारण पाँच महाभूतोंमें मिल जाता है। पञ्चमहाभूत अपने कारण आदिभूत (अहङ्कार) में मिल जाते हैं। व्यक्त-रूप कारणकलाप अपने कारण पुरुषाक्षरमें मिल जाता है, और पुरुषाक्षर अपने स्वरूप मूलस्वरूप भगवच्चरणारविन्द अक्षर ब्रह्ममें स्थित होता है उस समय अशेष नामरूप भगवान् पुरुषोत्तम ही केवल बाकी रहते हैं।

'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' 'पुरुष एवेदꣳ सर्वम्' 'सच्च त्यच्चाभवत्' 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' 'ऐतदात्म्य-मिदं सर्वम्'

इत्यादि श्रुतियाँ सब इस आधिदैविकस्वरूप जगत्को कह रही हैं। आधिदैविक जगत्में और भगवान्में अणुमात्र भी भेद नहीं है, त्याज्य नहीं है, केवल विशुद्ध ब्रह्म-ही-ब्रह्म है। इस सृष्टि-का द्वितीय स्कन्धमें प्रवेश्यरूपसे सूक्ष्म वर्णन है। यह ब्रह्मकल्पमें प्राथमिक सृष्टि होती है। आगे पाद्मकल्पादिमें होनेवाली सृष्टिको कार्यसमर्थ बनानेवाली, उसको शक्ति देनेवाली, उसमें प्रवेश करनेवाली यह सृष्टि है। इस ब्राह्म जगत्के प्रवेश करनेसे ही वह पाद्म जगत् कार्यक्षम होता है। इस प्रवेशका वर्णन तृतीय स्कन्धमें है।

'तस्यापि द्रष्टु' 'द्रव्यं कर्म च कालश्च' 'सर्वं पुरुष एवेदम्' 'पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य' 'अहमेवासमेवाग्रे' 'एतद्भगवतो रूपम्' 'स वाच्यवाचकतया'

इत्यादि द्वितीय स्कन्ध-वाक्योंमें इस ब्राह्म आधिदैविक जगत्‌का निरूपण है। इसमें माया[1] प्रकृति गुणत्रय प्रभृति सब आध्यात्मिकादि जगत्‌के अनुसार ही रूपनाम है क्योंकि आध्यात्मिकादि जगत्‌में प्रवेश करना है, 'पुरः पुरुष आविशत्' इसलिये तत्सदृश रूपनामको सुनकर भ्रममें आ जाना उचित नहीं है। दोनों जगत् पृथक्-पृथक् हैं। अपने सच्चित् आनन्द-स्वरूपका परित्याग न करके अरूपनाम भी आगे होनेवाले जगत्-जैसा ही प्रकट होकर सब जीवादि रूपोंके नामरूप और क्रियाओंका धारण करता है, उन्हें बनाये रहता है। वास्तवमें यह अकर्मक है, सबका नियामक है, तथापि सारे जगत्‌को उत्पन्न करनेके लिये त्रिगुणात्मक और अव्यक्त रूप लेता है।

अविकृत[2] और विकृत दोनों जगत् एकत्र हैं किन्तु अमिलित हैं। विकृत भावोंमें अन्दर छिपे हुए अविकृत (आधि-

---

१ वाच्यवाचकत्वं अनामरूपात्मनि नामरूपे विधाय तादृशो भूत्वा जगतः पालनादिकं करोति इति वाच्यवाचकतया स्वरूपाप्रच्युतब्रह्मरूप सच्चिदानन्द बिभ्रत् सर्वेषामपि जीवानां नामरूपक्रिया धत्ते। यतो वस्तुतोऽकर्मकः सर्वकर्मरहितः। सर्वेषां नियामकश्च। एतादृशोऽपि सर्वानुत्पादयितु त्रिगुणात्मक अव्यक्त च रूप करोतीत्यर्थः।

(सुबो० २।१०।३६)

२ स एवाग्रे पूर्वमेव स्वप्रकृत्याधिदैविकस्वभावेनेद भगवदर्थमेव जगत् त्रिगुणात्मक सृष्टा। अन्यार्थे जगत्सृष्टौ प्रवेशोपेक्ष्यते न स्वार्थसृष्टावित्यप्रविष्ट एव भोगार्थे कारणत्वेनैवाविर्भूतः। (सुबो० १०।३।१४)। अविकृता भावा आधिदैविकानि चतुर्विंशतितत्त्वानि 'चक्षुषश्चक्षुः'

दैविक) पदार्थ रहते ही हैं। अविकृत भावोंका ही रूपरसादि-ज्ञानसामर्थ्य और क्रियाशक्ति मुख्य है। विकृत भावोंमें तो उनके प्रवेश होनेसे गौण सामर्थ्य है। तथापि दोनों पदार्थ एकत्र कार्य करनेके लिये इस ब्रह्माण्डदेह विराट् शरीर जगत्की रचना करते हैं। यही बात उत्तरार्द्ध दशम स्कन्धमें भी कही है—

प्राणादीनां विश्वसृजा शक्तयो याः परस्य ताः।
पारतन्त्र्याद्वैसादृश्याद् द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम् ॥

प्राणादिक जितने अट्ठाईस तत्त्व हैं वे सब विराट् शरीरको पैदा करते हैं इसलिये वे विश्वस्रष्टा कहे जाते हैं, उन प्राणादि विश्वस्रष्टाओंकी जो कुछ शक्तियाँ हैं वे सब आधिदैविक जगत्रूप भगवान्की हैं, न आध्यात्मिक और न आधिभौतिक

इत्यादिषु श्रुतिप्रतिपादितानि तत्तत्कार्यार्थं तत्र तत्र स्थितानि, विकृतैस्तथैव चतुर्विंशतितत्त्वैः प्राकृतैः सह, नानावीर्या रूपरसादिज्ञापनसमर्था अन्योन्यममिलिताः कार्याणि कर्तुमेकस्मिन्नेव कार्ये, सर्वे सहत्य ब्रह्माण्ड-विग्रह स्वराड्देह जनयन्ति। आधिदैविकव्यतिरेकेणाधिभौतिकात् केवलात् कार्यं न सम्भवतीति। (सुबो० १० । ३ । १५)

१ एतेषां याः शक्तयस्ताः परस्यैव आधिदैविकस्यैव न त्वाध्यात्मिकस्य। एते आध्यात्मिकाः परतन्त्राः कथ स्वतन्त्रतया कार्यं कुर्वन्ति। सर्ववस्तूनां वस्तुस्वरूपआधिदैविकापरपर्यायः 'चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मन' इत्यादि श्रुतिवाच्यो भगवानेवेत्यर्थः। ननु जीवोऽङ्गी-कर्तव्योऽवश्यमिति अन्तर्यामी वा जीवो वा स्वशक्त्याधान करोतु किम-न्तर्गडुना रूपान्तरेणेति चेत्तत्राह वैसादृश्यादिति। सर्ववस्तूनामात्मा विसदृशः चेतनत्वादन्येषां जडत्वात्। अतः प्रतिनियतपदार्थसिद्ध्यर्थं तत्स्वभावापन्न अतिरिक्तमेव रूपमङ्गीकर्तव्यम्। कर्त्ता सर्वप्रविष्टात्मा नाना-रूपस्तथा परः। चतुर्धा वेदरक्षार्थं चतूरूपो (सुबो० १० । ३६ । ६)

पुरुषकी हैं। क्योंकि आध्यात्मिकादि पुरुष आधिदैविक परतन्त्र है। 'चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः' इत्यादि श्रुत्युक्त श्रोत्रादिरूप भगवान् जब उनमें शक्तिका आधान करते है तभी वे कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। अन्यथा उनकी स्वतन्त्र कार्य करनेकी शक्ति नहीं है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि जीव किंवा अन्तर्यामी आध्यात्मिकादि जगत्को शक्ति प्रदान कर देगा इनके अतिरिक्त आधिदैविक जगत्रूप भगवान्के माननेकी क्या आवश्यकता है? तो उसका उत्तर यह है कि 'वैसादृश्यात्'। दोनोंमें भेद है, सदृशता नहीं है। जीवान्तर्यामी कुछ और हैं और यह आधिदैविक जगत् कुछ और है। जीव चेतन है और बाकी रहा जड है किन्तु यह आधिदैविक रूप आनन्द है इसलिये विसदृश है। विसदृश पदार्थ विसदृशमें शक्तिका आधान नहीं कर सकते। अन्धेकी चक्षुमें कर्णेन्द्रिय देखनेकी शक्तिका आधान नहीं कर सकती, चक्षुरिन्द्रिय ही करती है। इसलिये तत्तत्पदार्थसदृश आधिदैविक जगत् एक पृथक् ही है। और वह फलरूप आनन्दमय भगवान् ही नाना रूप धारण किये सबके अन्तःप्रविष्ट है। उसके ऊपर आध्यात्मिक चित्सद्रूप जगत् है, और उसके ऊपर आधिभौतिक विषयतारूप जगत् है। जगत्में आधिदैविक जगत् और भी है इसके लिये श्रीमद्भागवतमें एक साधक युक्ति भी दी है—

नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वर।
यथा द्रव्यविकारेषु ह्यन्यदा व्यावहारिकः॥

(१०।३६।१२)

अर्थात् दुनियामें जितने कृतिजन्य पदार्थ हैं वे सब नाशके प्रतियोगी (विरुद्ध) होते हैं। जहाँ घट है तो वहाँ उसका अभाव नहीं रह सकता, और घटाभाव है तो घट नहीं। इस तरह सब कार्य नाशप्रतियोगी होते हैं। उस कार्यके अनेक धर्म होते हैं जो उसमें रहते हैं, नीलत्व, रक्तत्व, कृतिजन्यत्व, नष्टत्व आदि। ये सब धर्म अनित्य हैं और इन धर्मोंका धर्मी भी अनित्य है क्योंकि नील घटके समय रक्त घट नहीं है और अभग्न घटके समयमें भग्न घट नहीं है। किन्तु इन नश्वर पदार्थोंमें एक कोई अप्रत्यक्ष और अनुभवैकवेद्य अनश्वर कार्य (पदार्थ) मानना ही पड़ेगा जिसका नष्टत्व आदि धर्म है। यह हो नहीं सकता कि नष्टत्व तो रहे और उसका धर्मी न रहे। इसलिये एक कोई सर्वपृथक् पदार्थ मानना ही होगा जो सब कार्योंमें अनुस्यूत और स्थिर रहता है। बस, वही आधिदैविक भगवान्रूप पदार्थ है। जिसपर सब धर्मधर्मीव्यवहार होते रहते है। जितने द्रव्यविकार (घटपटादि) हैं उन सबमें एक अन्य अनश्वर अविकृत पदार्थ माना ही जाता है। जिसके

---

१ एव कारणस्य कारणतामुक्त्वा कार्यस्यापि कार्यता भवानेवेत्याह-नश्वरेष्विति। नाशप्रतियोगिकार्यम्। ततश्च कार्यस्य नाशे कार्यता नोपपद्येत, कार्यस्य नष्टत्वात्। अतः कश्चन पदार्थो वक्तव्यः, यः कार्यः कार्येषु स्थिरो भवति यस्य नष्टत्य धर्मः। कार्यस्येति सम्बन्धश्च। स अनश्वरः सर्वदा स्थिरः स एकः सर्वानुस्यूतो वक्तव्यः। यथा द्रव्यविकारेषु घटपटादिषु सोऽन्यो घटपटादिरूपो वर्तते······। घटाभावसमये यस्तु घटव्यवहार साधयति। अन्यथा सद्व्यवहारो बाधितार्थविषयकः कथ स्यात्। भूतले घटो नास्तीति। एव धर्मधर्मिव्यवहारः सद्विषयक एवेति सोऽवश्यमङ्गीकर्तव्यः। (सुबो० १० । ३६ । १२)

द्वारा घटाभावके समयमें 'घटाभावोऽस्ति' यह अस्तिका व्यवहार होता है। असत्में सद्व्यवहार नहीं हो सकता। घटोत्पत्तिके पूर्व भी घटसत्ता माननी ही पड़ती है अन्यथा असत्की उत्पत्ति ही कैसे होगी, शशशृंगवत्। घटसत्तामें तो घट विद्यमान है ही और नाशके बाद भी तत्प्रतियोगी घट मानना ही पड़ेगा। जिसका वह नष्टत्व धर्म है। इस तरह सारे पदार्थों-में स्थिर पदार्थ जो कोई है वह भगवान् आधिदैविक जगत् है यह सिद्ध होता है।

यह सर्वाधार है, इसकी सत्तापर ही आध्यात्मिक और आधिभौतिक जगत्की सत्ता है। यह ग्राह्य है, वे दोनों त्याज्य हैं। यद्यपि ये दोनों भी भगवान् हैं यह हम आगे स्पष्ट करेंगे तथापि प्रकार होनेसे त्याज्य हैं। जब वे आश्रयरूप होंगे तब वे भी ग्राह्य ही रहेंगे। जो-जो आश्रयरूप होता है वह सब ग्राह्य ही रहता है। आश्रय सच्चिदानन्द भगवान् है। उसमें भी अनन्तानन्द सच्चिदानन्द ग्राह्य और आश्रय है। अतः 'सर्वं ब्रह्म' यह मुख्य वाद है और यही भक्तिमार्गके उपयोगी ब्रह्मवाद है।

एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः[1]।
यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः॥

(त० नि०)

यह सारा जगत् भगवान्से ही बना है इसलिये सब भगवान् ही है यों कार्यकारणभाव रखकर गौणब्रह्मवादपूर्वक

१ एव सर्वं विनिश्चित्य, सर्वं भगवत एव, स एव च सर्वमिति गौणमुख्यज्ञानयुक्तप्रेम्णा श्रवणादिप्रकारेण यो भजते स भक्तिमार्गे उत्तमः। (त० नि० प्र०)।

जो प्रेमसे नवधा भक्ति किंवा तनुजा-वित्तजा-सेवा करता है वह उत्तम भक्तिमार्गीय भक्त है। अथवा जो यह सारा जगत् केवल भगवान् ही है 'अखण्डं कृष्णवत्सर्वम्' यों कार्यकारणभावका भी परित्याग करके केवल ग्राह्य ब्रह्मवादपूर्वक प्रेमसे भगवान्की नवधा किंवा तनुजा-वित्तजा-सेवा करता है वह उत्तम भक्तिमार्गीय भक्त है। यह[१] लीलासृष्टि है, भगवान् अपने क्रीडा करनेके लिये जगत् होता है। स नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत् सह एतावानास। यह प्राथमिक सृष्टि है, श्रौत सृष्टि है, लीलासृष्टि है, इसमें सब कुछ केवल भगवान् है।

अब दूसरी पौराण सृष्टि है। आध्यात्मिक सर्ग है। ब्रह्मोपादानक मायाकरणक जगत् है। कुछ ग्राह्य कुछ त्याज्य ब्रह्मवाद है। भेदाभेदवाद है। 'इदं हि विश्वं भगवानिव इतरः।' यह सारा जगत् दूसरा भगवान्-जैसा है। केवल भगवान् नहीं। क्योंकि इसकी भगवान्से तो उत्पत्ति है किन्तु कुछ मायाका भी सहारा है।

जिस समय भगवान् अपने स्वरूपका भोग आप करना चाहता है, जिस समय भगवान् अपना भोग जीवको कराना चाहता है अतएव वास्तव बाह्य रमण करना चाहता है उस समय पुरुषपर्यन्त पूर्वोक्त प्रकारके तरह ही रूपान्तर धारण करता है। यह पुरुष द्वितीयाक्षर है। इसके लिये श्रीशुकदेवजीने नमस्कारश्लोकमें 'भूयसे' पद दिया है। अर्थात् जो

---

१ कदाचित्सर्वमात्मैव भवतीह जनार्दनः। लीलार्थं जीवानां क्लेशमसहमानः। अस्मिन्पक्षे नानन्दतिरोभावः।

बहुत हुआ है, उस पुरुषको मैं प्रणाम करता हूँ। इस सर्गकी 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' श्रुतिमें सूचना की है। पूर्वोक्त सृष्टिमें 'स द्वितीयमैच्छत्' एक आप दूसरा अक्षर बस दोकी ही इच्छा थी। और यहाँ बहुभवनेच्छा भी है। इसलिये इस सर्गमें आविर्भाव-तिरोभाव-शक्तिका उपयोग भी हुआ है। 'परा-भिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ।' पूर्वोक्त सृष्टिमें वैचित्र्य और बहुभवन रहते भी कार्यता न होनेसे कारण और कारण-कारणरूप दो ही पदार्थ सब कुछ था। किन्तु यहाँ बहुभवनेच्छा होनेसे मायाको भी आश्रय देना उचित समझा गया। उस सृष्टिमें केवल धर्मधर्मी सृष्टि है। किन्तु यहाँ धर्मधर्मीशक्ति और कार्यरूप भी सर्ग है। यहाँ कुछ अंशमें योग-विस्मृतिको भी सहारा दिया है। यह पौराण सृष्टि कारण-करणात्मक है। इसमें कारणका भी अंश है और करणका भी। कुछ विषय भी है और कुछ विषयता भी। क्योंकि जीवको भी भोग कराना है। रूपान्तरद्वारा भी भोगलीला करनी है।

इस द्वितीय सर्गका यहाँसे प्रारम्भ होता है—

> उदाप्लुतं विश्वमिदं तदासीद्यन्निद्रयामीलितदृङ्न्यमीलयत्।
> अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एक कृतक्षणः स्वात्मरतो निरीहः॥

श्रीमद्भागवत[1] पुराण है। दश लीलायुक्त वेदातिदेश शास्त्रका नाम पुराण है। भगवान्ने जिसे कहा हो, भगवान्का

---

[1] भागवत नामेति, तदवान्तरभेदः। यौगिकश्चायम्, तेन भगवता प्रोक्तम्, भगवत्प्रतिपादकं भगवत्फलकं चेति। एवं ब्रह्मवादं कर्तृवादं च निरूप्य एतादृशं रूपं भगवतः कस्मिन्काल इत्याकाङ्क्षायां ब्रह्मकल्प इत्युत्तरमाह—अथ तु ब्रह्मणः कल्पः। ब्रह्मकल्पे। अत एवात्र दशविधा

जिसमें प्रतिपादन हो, भगवान् ही जिसका फल हो, उसे भागवत कहते हैं। प्रथम भागवत द्वितीय स्कन्धमें हो चुकी। ब्रह्मासे भगवान्ने यह भागवत कही। अब द्वितीय भागवतका प्रारम्भ होता है। यह श्रीमद्भागवत परीक्षितसे श्रीशुकने और विदुरसे श्रीमैत्रेयने कही है। परीक्षित भगवद्गृहीत जीव है और विदुर भगवद्गृहीत देव है (धर्मराज भागवत)। इसलिये इसे आठ दिन लगे और विदुरको सुनानेमें थोड़ा ही समय लगा। श्रीमद्भागवत (दशलीलायुक्त भगवान्) विषयक प्रश्न द्वितीय स्कन्धमें (अ० ८) किया और विदुरने तृतीय स्कन्धमें किया है। श्रीशुकदेवजीने प्राथमिक सृष्टिसे प्रारम्भ किया और मैत्रेयजीने तृतीय स्कन्धकी द्वितीय सृष्टिसे प्रारम्भ किया। राजा परीक्षित राजर्षि हैं इसलिये इसकी भागवतका ब्रह्मकल्पसे प्रारम्भ हुआ। वह सृष्टि ब्राह्म है, मुख्य ब्रह्मवाद है, अतिसूक्ष्म है, वेदका ही 'सृती विचक्रमे' अनुवाद है। इसलिये वहाँसे प्रारम्भ करना उचित हुआ। और दूसरी बात यह है कि उसे सम्पूर्ण विस्तारसहित सुनाना है। किन्तु विदुर तात्कालिक शूद्र है 'न शूद्राय मतिम्' और उसे बहुत संक्षेपसे ही कहना पड़ेगा इसलिये मैत्रेयने तृतीय स्कन्धसे ही प्रारम्भ किया। यद्यपि विदुरने प्रश्न बहुत-से किये थे तथापि उच्चाधिकारी होनेसे त्वरित फल हो गया अतएव थोड़ा ही कहना पड़ा।

लीलास्तुल्याः। सर्गादीनां विशेषाः पाद्मकल्पे भवन्ति। अतो भगवद्दश-लीलाविस्तारार्थम् 'अथो' भिन्नप्रक्रमेण शृणु। (सुबो० २।१०।४६)

१ स पक्षोऽत्रैवर्णिकाय सर्वथा न वक्तव्य इति। 'दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः' 'असुर्यः शूद्रः' इति श्रुतेः। (सुबो० ३।७।८) विदुर-मैत्रेयलक्षणस्य भागवतस्य शीघ्रफलत्वात्। (सुबो० २।१०।४८)

ब्रह्ममें दश लीला गुप्त एवं संक्षिप्त होती है अतएव यह भागवत प्रथम है। और आधार (आश्रय) भी है। भगवान्में दश लीला प्रकट एवं विस्तृत हैं और आधेय हैं। इसलिये यह भागवत द्वितीय है और इसका प्रारम्भ द्वितीय पौराणसर्गसे प्रारम्भ हुआ। पुराणोंमें ब्रह्मको भगवान् कहा है। 'भागवते तथा' 'भगवानिति शब्द्यते'।

भगवान्की दश लीलाओंमें पहला चरित्र सर्ग है। किन्तु वह सर्ग ब्राह्म भी है और भागवत (भगवत्कृत) भी है। किन्तु यह भागवतपुराण है इसलिये भगवत्कृत सर्ग (द्वितीय जगत्) का ही वर्णन करना उचित है। राजा और विदुरके प्रश्न किये पदार्थ ब्रह्मकल्पमें नहीं थे इसलिये दूसरे कल्पके अनुसार कहना पड़ा। पद्मकल्पमें भगवत्कृत चरित्र प्रश्नानु-

---

१ पुराण हि दशलीलायुक्तम्। तत्रादौ सर्गो वक्तव्यः। स च भागवतत्वाद्भगवत्कृतः। तत्र पृष्टानामर्थानां ब्रह्मकल्पेऽभावात् कल्पान्तरानुसारेण वक्तव्यम्। यद्भगवतैव कृतम्। तच्चरित्रं पद्मकल्पे वर्तत इति तन्निरूपणार्थं पूर्वकल्पस्य प्रलयानन्तरस्थितिमनुवदति—उदकेन प्लुत सर्वमेव विश्वमासीदिति। बहुविधा हि प्रलयाः। राजसेषु तु प्रलयजलेन निमग्नानि भवन्ति। तत्र पद्मकल्पात्पूर्वकल्पो राजस इति उदाप्लुतमित्युक्तम्। इदमिति सर्वदा विश्वमेकविधमेवेति। यद्यदा निद्रया भगवच्छक्त्याऽलुप्तज्ञानशक्तिरेवामीलितदृक् न्यमीलयत्, अक्षिमीलनं कृतवान्। निमीलिताक्षो जागर्तीत्यर्थः। स्वात्मरतौ कृतक्षण इति। 'कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित्सुखम्' इति सृष्टिप्रलयकरणे निमित्तमुक्तम्। आत्मरतावात्मनि क्रीडायां स्वरूपानन्दरमणे। स्वरूपानन्दः पूर्णानन्दः। कदाचित्स्वानन्दमेवानुभवति। क्रिया बहीरमणेऽभिवृद्धिकरी, ज्ञानं त्वन्तः। अन्योन्यबाधकत्वं च। निरीहः सर्वचेष्टारहित.। (सुबोधिनी ३।८।१०)

सारीपदार्थयुक्त है, इसलिये ब्रह्मकल्पके प्रलयके बादकी स्थितिका श्रीशुकदेवजी वर्णन करते हैं। 'उदाप्लुतम्'। कल्प एक समयके विभागका नाम है। ये कालविभाग तीस हैं और अनन्त भी हैं। जिस प्रकार कल्प होते हैं इसी तरह विकल्प भी होते हैं। कल्पोंके अवान्तर कल्पोंका नाम विकल्प है। कल्प और विकल्प दोनों दो-दो तरहके होते हैं प्राकृत और वैकृत। और फिर ये भी सब तीन-तीन प्रकारके होते हैं। सात्त्विक, राजस और तामस। ब्रह्मकल्प और उसका विकल्प सबसे पृथक् हैं और आद्य हैं।

राजसकल्पमें जगत्का जलप्रलय होता है। इस पद्मकल्पके पूर्वका कल्प राजस था ऐसा स्पष्ट होता है। उस समय राजसकल्पकी अन्तिम और पद्मकल्पके प्रारम्भकी अवस्था थी, सारा जगत् जलनिमग्न था। जगत्के प्रकार सब एक प्रकारके ही होते हैं इसलिये 'इदम्' यह सामान्य वचन कहा। उस समय पूर्णानन्द यह भगवान् शेषकी शय्यापर अकेले (द्वितीयाक्षरप्रथम पुरुष) सर्वज्ञ रहते भी कुछ आँखें मीचकर सोते हुए भी जाग रहे थे। अर्थात् अपने स्वरूपानन्दमें रमण करते हुए निश्चेष्ट स्थित थे। आत्मरतिमें सुखका अखण्ड भोग होता है, ज्ञानक्रिया आन्तर रहती है और अन्योन्य बाधकता नहीं रहती है। और बाह्य रमणमें उतना सुख विभक्तवत् हो जाता है। ज्ञानक्रिया बाह्य भी होती है और अन्योन्य बाधकता भी रहती है। यह भगवान्की प्रलयानन्तरीय सुषुप्तिका वर्णन है। भगवान्की यह विद्यामयी सुषुप्ति इसी प्रकारकी होती है। जीवकी सुषुप्ति अविद्यामयी

कालके द्वारा पुरीतत् नाडीमें जानेसे होती है। किन्तु यह भगवान्की सुषुप्ति अपनी इच्छासे कालको प्रेरणा करते हुए अपने निजस्थान जलके सम्बन्धसे रहती है। इस प्रकार थोड़ी देर (कितने ही कल्प-विकल्प जितने समय) यह निरीह सुषुप्ति रही। तदनन्तर कुछ चेष्टाका प्रादुर्भाव हुआ। यह पहली चेष्टा—इच्छा है। इच्छा अनेक प्रकारकी होती है। आन्तर रमणेच्छासे सुषुप्ति, मध्य रमणेच्छासे स्वप्न और वाह्य रमणेच्छासे जाग्रत् (प्रपञ्च) का प्रादुर्भाव होता है। भगवान्की यह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों रमणरूप हैं। सदंशमें रमण जाग्रत् (प्रपञ्च), चित्में रमण स्वप्न और आनन्दमें रमण सुषुप्ति। तीनों पदार्थ केवल ब्रह्म हैं। भगवान् सर्वदा स्वरूपसे ही क्रीडा करते हैं। सत्, चित् और आनन्द तीनों स्वरूपात्मक भी है और धर्मात्मक भी हैं। जब भगवान् निरीह सुषुप्तिमें विराजते हैं उस समय धर्मधर्मी एक हैं, आनन्दघन हैं, आनन्दशरीर हैं तथापि आनन्दस्वरूप हैं। यह 'उदाप्लुतम्' श्लोकमें निरूपण हो चुका। अव 'सोऽन्तःशरीरे' श्लोकमें जो अवस्था है वह निरीह सुषुप्ति नहीं है किन्तु कुछ इच्छासहित, शक्तिसहित, धर्मसहित है।

सोऽन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः
कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः।
उवास तस्मिन्सलिले पदे स्वे
यथानलो दारुणि रुद्धवीर्यः॥

यह सृष्टि केवल स्वोपादानक नहीं है किन्तु मायासहकृत है। पूर्वमें प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि यह भगवल्लीला योग-

मायोपबृंहित है। इसलिये रमणमें स्त्रीकी अपेक्षा हुई। श्रुतिने भी कहा है कि—

स आत्मानमेव द्वेधापातयत्तत पतिश्च पत्नी चाभवताम्।

भगवान्की पत्नी लक्ष्मीजी प्रसिद्ध हैं। जब भगवान्को विश्वसर्ग करनेकी इच्छा हुई तब अपने स्वरूपसे अपने धर्मोंको पृथक् कर दिये। स्वरूप और धर्म दो हुए—भगवान् पुरुषोत्तम और अक्षर ब्रह्म। यद्यपि अक्षर ब्रह्म धर्मरूप है तथापि सृष्टिकर्ता है इसलिये धर्मी भी है। ब्रह्मकल्पमें इन दोसे ही सारी सृष्टि

---

१ स्वरूपानन्दः पूर्णानन्दः। अक्षरानन्दस्तु लक्ष्मीरूपः पूर्वं निरूपितः। शरीर त्वानन्दमयमिति पूर्वं निरूपितम्, सदानन्दमय वा। सच्चिदानन्दरूपमिति तु वस्तुस्थितिः। पुरुषस्य सद्बाह्यम्। मध्ये ज्ञानम्। आनन्दस्त्वन्तः। स्त्रियास्तु विपरीतम्। तस्याः सत्येव रतिः, न त्वानन्दे कदाचिदपि। पुरुषस्य तु विपरीतम्। आनन्दानुभवस्तस्यान्तर एव युक्तो न बाह्ये, भेदकरणप्रसङ्गात्। आनन्दस्य स्वस्थानत्यागात्। न तादृशानन्दोऽनुभवयोग्यः। भगवत्यपि तथाबीजत्वात्। अत. सति रमणेऽक्षरानन्द पृथक्कृत्य लक्ष्म्या सह रमते। चिति रमणे सदानन्दौ तस्यान्तर्बहिर्निधाय बाह्याभ्यन्तरभेदेन रमते। तत्र प्रपञ्चो वेदाश्च रमणसाधनम्। तत्राधिकारिण' कालस्य नियामकत्वात्, भगवदेकसम्भोगसम्पादकत्वाच्च, अशाना भोगो मा भवत्विति तद्विषयानन्त. प्रवेश्य स्वात्मानुभव करोतीति। ननु बहि स्थितानां पदार्थानामन्तःस्थापितत्वात् कालस्य च विद्यमानत्वात् सर्वे जगद्बहिरागच्छेत् तत्राह यथानलो दारु०। यथा तस्य दाहकशक्तिर्निरुद्धा, तथा कालादीनां स्वस्यापि शक्तिर्निरुद्धा। (भाग० सु० ३।८।११) अपेक्षितानामर्थाना भिन्नकल्पेऽपि सम्भवे लीलाकथनसिद्ध्यर्थमेकरूपेण वर्तते। अतो नात्र विरोधोऽस्ति केनाप्यशेन निश्चितम्।

(भाग० सु० ३।१३ कारिकाः १०-११)

हुई यह हम कह चुके हैं। जैसी इच्छा, वैसा स्वरूप, वैसे धर्म, यह नियम है। इस समय योगमायोपबृंहित क्रीडा करनी है। अर्थात् जिसमें पुरुषकी मति हरण हो जाय ऐसी लीला करनी है। साधारण प्रेममें भी मतिहरण होता है किन्तु स्त्रीके प्रेममें मतिहरण अच्छा होता है इसलिये भगवान्‌को भी स्त्रीकी इच्छा हुई। अपने धर्मरूप अक्षर ब्रह्मने ही लक्ष्मीरूप भी धारण किया। लोकमे पुरुष और स्त्री दोनों सत्, चित्, आनन्दमें रमण करते हैं। पुरुषमें सदंश वाहर है, मध्यमे चित् है और अन्तः आनन्द है। किन्तु स्त्रीके विपरीत है। आनन्द वाहर है, चित् मध्यमें है और सत् अन्तः है। इस लोकन्यायके अनुसार जव भगवान् आनन्दमें आत्मरति अन्तःरति करते है तव सुषुप्ति होती है, और जव मध्य चित्‌में रति करते है तव स्वप्न कहा जाता है (स्वप्नसृष्टि तीसरी है) और जव सत्‌मे रमण करना चाहते हैं तव जाग्रत् अर्थात् प्रपञ्चप्रादुर्भाव होता है। कहाँ किस समय रमण करना यह भगवान्‌के लिये कोई नियम नहीं है, कर्ताकी इच्छापर है। जाग्रत्‌में लक्ष्मी अनेकरूपरूपा ही रमणसाधन है। और स्वप्न और सुषुप्तिमे वेद और प्रपञ्च रमणसाधन हैं। और चित्‌में रमण करते समय चित्‌के अन्तः और वहिः सत् और आनन्दको रखकर उस चित्‌को ही स्त्रीका-सा रूप देकर रमण करते है अर्थात् स्वप्नमे मायाके साथ रमण करते हैं। यह जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूप भाव लोकमें जिस तरह कर्ताकी इच्छापर निर्भर है इसी प्रकार भगवान्‌की इच्छापर निर्भर है। स्वकृत प्रपञ्च और मायाकृत प्राकृत प्रपञ्च दोनोंमें भगवान्‌के रमणसाधन प्रपञ्च और शेष (वेद) दोनों होते हैं। इस

अर्ध सुषुप्तिके समय इच्छाके साथ चेष्टारूप काल भी प्रकट रहता है। वह अधिकारी है। इसलिये वह यह निरीक्षण रखता है कि इस समय कोई दूसरे अंशभोग (सुखाद्यनुभव) न कर सकें केवल भगवान्‌का ही भोग सम्पादित हो। अतएव भोग-साधन भूतसूक्ष्मादि पदार्थ अन्तर्हित रहते हैं। सब चिदंशोंको अपने स्वरूपमें छिपाये रहते शयन करते हैं। उस समय केवल अपने-आपका ही अनुभव करते हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अधिकारी काल सर्व-समर्थ है। वह अन्तःस्थित पदार्थोंको बाहर निकलवा सकता है। तो इसका उत्तर इतना ही है कि 'यथानलो दारुणि रुद्धवीर्यः।' अग्नि जिस समय काष्ठमें रहता है उस समय अपनी सब शक्तिको रोके हुए रहता है। इसी प्रकार इस अवस्थामें भगवान् भी अपने अंशोंकी, कालकी और अपनी भी शक्तियोंको रोके हुए शयन करते हैं। कालकी केवल संहारिका शक्ति ही जाग्रत रहती है और सब शक्तियाँ सुप्त रहती हैं। जल भगवान्‌का सुषुप्ति और अर्ध सुषुप्तिके समयका नाम निर्वाचक है (नारा अयनम्) इसलिये उसपर ही शयन करते हैं। यह जल उनका स्थान है। इस प्रकारसे स्वनाम-निर्वाचक प्रलयोदधिजलमें शेषशय्यापर यह आनन्दमय (ब्रह्म-कल्पमें) किंवा सदानन्दमय (ब्रह्मकल्पके विकल्पमें) भगवान् पुरुषोत्तमरूप नारायण अपनी सब शक्तियोंको रोके हुए दिव्य सत्ययुगादि चारों युगोंकी हजार चौकड़ीपर्यन्त अन्तःक्रीडा करते रहे। तदनन्तर आनन्दका कुछ तिरोभाव-सा दिखाकर कालशक्तिके द्वारा चिच्छक्तिका उद्रेक किया। उस समय जगत्‌के सदंश और चिदंशको अर्थात् जिन्हें हम जीव और

जड पदार्थ कहते हैं, उनको अपने सदंशमें पिण्डीभूत देखे। अर्थात् अपने स्वरूपमें ही लीन रहनेसे सृज्य पदार्थका पृथक्-रूपसे विवेचन नहीं हो सकता था। यह एक कल्पकी पूर्वावस्थाका निरूपण है। किसी दूसरे कल्पमें दूसरी तरहसे भी पूर्वावस्थाका वर्णन है। श्रीमद्भागवतमें अनेक कल्पोंके पदार्थोंमेंसे अपेक्षित पदार्थोंका सम्मेलन करके एकत्र वर्णन कर दिया है। क्योंकि श्रीमद्भागवत इतिहास और पुराणोंका सार है—

इतिहासपुराणाना सारं सारं समुद्धृतम्।

अन्यत्र भी इस जगत्‌की रचनाकी पूर्वावस्थाका निरूपण है—

भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः।
आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः॥

यह[1] सारा जगत् पहले भगवान् ही था। भगवान् ही फिर दो तरहसे जगत् बन जाता है—शुद्ध और मिश्रभेदसे। जगत्‌का शुद्ध भेद तो पूर्वमें इसी ग्रन्थमें हम कह चुके हैं और

१ इद सर्वं जगत् पूर्वं भगवानेवास। शुद्धा तु भगवल्लीला भगवानेवैवप्रकारेण भवतीति। योगमायोपबृंहिता तु इदम्, जगदेक रूपं भगवतः प्रवाहानादिप्रकारेण आविर्भावतिरोभावयुक्तमनाद्यनन्त वर्तते। तिरोभावे तद्भगवानेव भवति, यथा लवण जलमेव भवति। तथापि न तयोः स्वरूपैक्यम्। तस्य मिष्टो रसः, अस्य च लवणः। पर विवेचयितु न शक्यत इति भगवत्त्वम्। अनन्तमूर्तौ च भगवति न तस्य तिरोभावः किन्त्वेकस्मिन्नेव। आसेति तत्र न भगवत्कर्तव्यता। विलीन लवण जले स्वत एव भवति, ततः पृथक्करण तु महत् कठिन भगवदेकसाध्यम्। अत इद भगवच्चरित्रमुच्यते।

जिसका श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्धमें प्रायः संक्षेपसे निरूपण है। यद्यपि यह शुद्ध भगवद्रूप भवन जगत् किंवा ब्रह्मका रूपान्तर केवल वेदमें वर्णित है तथापि प्रवेश्य जगत्का तृतीय स्कन्धमें वर्णन होगा, इसलिये प्रवेष्टा उस शुद्ध रूपका भी वर्णन अपेक्षित है। इसलिये द्वितीय स्कन्ध भागवतमे भी उसका दिग्दर्शन करा दिया है। वेदोक्त ब्राह्म सर्ग है तो पौराण सर्ग योगमायोपबृंहित है, भागवत है और अतएव मिश्र है।

योगमायोपबृंहिता भगवत्लीलामें भगवान्का ही एक रूप जगत् भी है। और यह प्रवाहानादिरूपसे अनादि और अनन्त है। कभी इसका आविर्भाव होता है तो कभी तिरोभाव होता है। भगवान्का यह रूप आविर्भाव-अवस्थामें जगत् कहा जाता है और तिरोभावमें फिर भगवान् ही हो जाता है। इतना रहते भी भगवान्का और इस भगवद्रूप जगत्का ऐक्य नहीं है। मिष्ट जलमें लवणको डालनेसे वह अपने-आप समय-पर जल हो जाता है तथापि जल और लवणको एक नहीं कह सकते और न वे दोनों एक हैं। क्योंकि जलका मिष्ट रस है और लवणका क्षार। इसी प्रकार यद्यपि जगत् भी भगवान्का ही अन्यतम रूप है और यद्यपि वह तिरोभाव अवस्थामें भगवान्-की अनन्त मूर्तियोंमेसे किसी एक नियत मूर्तिमें मिल भी जाता है तथापि भगवान् और यह जगत् दोनों एक नहीं हैं। जलमें लवण अपने-आप जल हो जाता है पर फिर उसे लवण बनाना श्रम और बुद्धिसाध्य है। इसी तरह प्रलयानन्तर फिर उसे जगत् बनाना भगवदेकसाध्य है। इसीलिये सर्गकी (लयकी नहीं) भगवच्चरित्रमें गणना की गयी है।

यहाँ एक यह प्रश्न होता है कि प्रलयसामयिक जीव चिदंश है, उन सबका एक ही भगवदंशमें (मूर्तिमें) लय कैसे होता है। इसका उत्तर इतना ही है कि यह समष्टि मूलभूत (द्वितीयाक्षर पुरुषरूप) भगवान् सब जीवोंका उपादान एवं अंशी है और चिद्रूप (चिच्चित्) है। उस समष्टि चिद्रूप भगवान्में ही इस सत्प्रधान जगत्का लय होता है। पूर्वमें कह चुके हैं कि यह लय भी सर्वथा ऐक्य नहीं है किन्तु अविभागाद्वैत है। सर्वथा ऐक्य तो प्रत्यापत्ति (आश्रयभाव) में ही होता है। उस समय जीवोंमें सर्व विमुक्ति, निर्विशेषता रहती है इसलिये वे आश्रयरूप ही हो जाते हैं, ब्रह्म हो जाते हैं। किन्तु अमुक्त जीवोंका लय इस तरहका नहीं है। अमुक्त जीवोंमें सदंश और चिदंश दोनों रहते हैं। दैवरूपसे संस्कार, वासना, अदृष्ट किंवा सम्पद्रूपसे उनमें अपना-अपना सदंश रहता है। उसी सदंशसे फिर उन्हें कल्पान्तरमें दूसरी सृष्टि होनेपर उन-उनके सदंशसे धन, गृह, देहादि फल प्राप्त होते हैं। मुक्त जीव चित्प्रधान किंवा चिन्मात्र होते हैं और लयावस्थाके अमुक्त जीव चित्सत्प्रधान होते हैं। अतएव यह जगत् (प्रत्येक पल चलनेवाला) सन्मात्र कहा जाता है। इस सत्प्रधान जगत्का लय, श्रीपुरुषोत्तमावतार आद्यवतार पुरुषाक्षरकी अनन्त मूर्तियोंमेंकी नियत किसी एक ही समष्टि चिदंशरूप स्वरूपमें होता है। और इसीलिये सर्गको भगवच्चरित्रता किंवा भगवदेक-साध्यता रहती है। यह समष्टि चिदंश सब जीवोंका उपादान है और सर्वज्ञ है। अतएव लय हो जानेपर भी इसे यह मालूम रहता है कि किस जीवका कौन-सा सदंश है इस विवेचनमें

वह विभु है, सर्वसामर्थ्ययुक्त है। जिस समय जगत्का सर्ग होगा उस समय 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' न्यायके अनुसार जहाँ-का-तहाँ यथायोग्य पैदा होगा। थोड़ा भी विपर्यय या अनिच्छित अव्यवस्था नहीं हो सकती। लय हो जानेपर इस प्रकार व्यवस्थित उद्गमन होना यह जीवसामर्थ्य नहीं है, यह भगवान्की ही शक्ति है, इसीलिये सर्गको भगवान्की प्रथम लीला कहा गया है। विभुका यह सामर्थ्य है कि लय होनेपर भी अपने-आपमें किसीका स्पर्श न हो और न एक दूसरेका विपर्यय हो।

यहाँ एक यह आशंका हो सकती है कि लय-अवस्थामें उनके सदंश इच्छादि धर्म भी जब विद्यमान रहते हैं तो फिर वे एक (निश्श्लेष आदि) भावसे ही कैसे रह सकते हैं। इसके लिये कहते हैं कि 'आत्मेच्छानुगतौ'[२]। जीवोंके इच्छादि सब

१ ननु जीवाना तदानीन्तनानां चिद्रूपत्वात् कथमेकस्मिन् लयः। तत्राह। स हि भगवान् सर्वेषा जीवानामात्मा समष्टिवन्मूलभूतश्चिद्रूप एव। तत्रैवास्य सत्प्रधानस्य लयः। अन्यथा काठिन्यमेव न स्यात्। अमुक्तजीवानां प्रलयाजीवाश्रित जगत्तत्रैव लीनम्। तस्योद्गमनसामर्थ्यायाह —विभुः। स हि सर्वसमर्थः प्रथमतो जीवान् स्वस्मिन् सम्पाद्य तत्रैव जगल्लय कारितवान्। अनेन तस्यास्पर्शो निरूपित.। (भाग० सुबोधिनी ३।५।२३)

२ ननु जीवानामिच्छादिधर्माणा विद्यमानत्वात्कथमेकभावेन स्थितिस्तत्राह—आत्मेच्छानुगतौ। आत्मनां या इच्छा सर्व एव धर्मास्तेषामपि तत्रैवानुगतिः। तदा भगवान् सृष्ट्यन्तरवदेकरसो न जात'। किन्तु नानामतिभिरेव उपलक्षित। अथवा, सर्वैरेव मतिभिरेक एवोपलक्षित.। यथान्योन्यविजातीयानि सहस्र लवणान्येकस्मिन् जले परिच्छिन्ने प्रक्षिप्तानि एकरसत्वमप्यापन्नानि नानामतिभिर्लक्षितमेक भवति। तेनैकदेशो

धर्मोंकी अनुगति भगवान्‌में ही होती है। लयावस्थामें जीव भगवत्परतन्त्र ही विशेषकर रहता है अतएव भगवदिच्छाके साथ उनकी इच्छाकी भी अनुगति रहती है।

यदि उनकी इच्छा ही न रही तो फिर यह एक तरहकी स्वरूपहानि ही कहिये यह शंका यदि कोई करे तो कहना पड़ेगा कि नहीं, उस समय भी भगवान् 'नानामत्युपलक्षणः' रहता है। अर्थात् सब जीवोंकी जो नाना बुद्धियाँ लयको प्राप्त हुई हैं वे सब विद्यमान हैं किन्तु वे सब भगवान्‌की मतिमें मिलकर स्थित हैं। जैसे एक दूसरेसे जुदी जातिके लवण-समूह किसीने जलके कुण्डमें डाल दिये तो वे थोड़ी देरमें एक-से हो गये। अब यदि कोई आकर पूछे कि कहो जी, वे सैन्धव आदि सब लवण कहाँ गये तो वह कह देगा कि जो कुछ है वह यह जल ही है। इस तरह लयकालमें सर्वात्मा भगवान्‌की समष्टि मतिमें वे सब व्यष्टि मतियाँ एक होकर रहती हैं। इस प्रकारसे सारा जगत् भगवान्‌में लीन रहता है।

यहाँतक मध्यम अर्थात् भिन्नाभिन्न जगत्‌की पूर्वावस्थाका निरूपण कहा, अब प्रथम जीवोंका उद्‌गम कहते हैं—

स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद्दृश्यमेकराट् ।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक् ॥

भगवान् ही किस प्रकारसे जीवका स्वरूप धारण करता है यह हम पूर्वसृष्टि (ब्राह्म सृष्टि) के निरूपणमें कह चुके। अब इस भागवत दूसरी सृष्टिमें तो केवल जीवोंका बहिर्निर्गमन

एष भगवति विश्वस्य लयो भवति। 'एकांशेन स्थितो जगत्' (भा० सु० ३।५।२३)

होता है। 'सः' वह भगवान् ही 'एषः' यह जीव हो गया[1]। सारा जगत् जिसके अन्तः विद्यमान था वह आद्यपुरुष ही अपने और अंशके भोगकी इच्छासे आनन्दांशका तिरोधान करके एक रूपसे (अंशसे) जीव हो गया। जिसे हम देवदत्तादिरूपसे पुकारते हैं वह भगवान्‌का ही तिरोभूतानन्द अंश हो गया है, जीवरूपसे प्रकट हो गया है। वही जीव थोड़े समयमें पूर्वसृष्टिके अपने पूर्व संस्कारसे द्रष्टा (ज्ञानवान्) हो गया[2]। 'मैं द्रष्टा (निरीक्षक) हूँ यह बात उसके स्मरणमें उत्पन्न हुई। द्रष्टा बननेके लिये दृश्यकी आवश्यकता रहती है। जब उसे मालूम हुआ कि मैं द्रष्टा हूँ तो अब उसे दृश्यके विचारकी अपेक्षा हुई। पर उस समय उसे सिवा उसके अपने-आपके दृश्य पदार्थ ही न मिला।

---

१ स वा एष इति। स एव भगवान् स्वस्मिन् विद्यमान॰ सर्वः, एष देवदत्तादिरूपेण प्रतीयमानो जीवो जातः।

२ तदा जीवो भूत्वा तिरोभावप्रकारेण आविर्भूतः, पूर्वसंस्कारेण तदा द्रष्टा जातः। तदा द्रष्टृत्वनिर्वाहार्थं दृश्यालोचने क्रियमाणे दृश्य नापश्यत्। यतः स एक एव सर्वजीवानामात्मभूतो निर्गत इत्येक एव राजते। यद्यप्यात्मान द्रष्टु शक्नोति, तथापि पूर्ववासनया वहिर्मुख एव निर्गत इति स्वातिरिक्तमेव दृश्यमालोचयन्, तदभावे आत्मानमेवासन्त मेने। इवेत्यर्द्धासत्त्वम्। आत्मांशो वर्तते वेद्यांशो नास्तीति औपाधिकधर्माणामुपाध्यभावे धर्माभावः। ननु पूर्वं दृश्यस्य विद्यमानत्वात्, सदृश्यस्य तस्य लयात्, स्वाविर्भावे दृश्यमपि कुतो नाविर्भूतमिति चेत्—सुप्तशक्तिः। सुप्ताः शक्तयः यस्य। ये प्रपञ्चोद्बोधकास्ते नाद्याप्युपस्थिता इति। एवं तर्हि ज्ञानशक्तिरप्यनुद्गता स्यात्। तत्तत॰ कुतो मेने आत्मानमसन्तमिति तत्राह—अस्य ज्ञानशक्तिः पूर्वमपि न लुप्ता, आत्मवदेव स्थिता आत्माविर्भाव एव आविर्भूतेत्यर्थः, स यदात्मान असन्तमिव मेने। (भाग॰ सुबोधिनी ३।५।२४)

यह बात ठीक है कि वह यदि अपने-आपको भी देखकर और उसका ही विचार करके अपने द्रष्टृत्वका निर्वाह करता तो कर सकता था किन्तु यह जीव पहली सांसारिक वासनाओंके वशीभूत होनेसे बहिर्मुख ही उत्पन्न हुआ। परमात्माने उसके इन्द्रियोंको बहिर्वेदनशक्तिमात्र बनाकर कमजोर कर दिया था, इसलिये वह आत्मद्रष्टा न हुआ और न अपने-आपका विचार ही कर सका। वह अकेला था और सब जीवोंका समष्टिरूप था, अतएव सर्वजीवराट् था।

जब उसे दृश्यका दर्शन न हुआ तब वह आपको 'मैं कुछ वस्तु ही नहीं हूँ' इस प्रकार एक तरहसे असत् (झूठा) मानने लगा। सत्य है, दृश्यके सर्वथा अभावमें द्रष्टृत्वकी सिद्धि होनी कठिन है। मूलमें 'इव' पद दिया है। इसलिये कहना पड़ता है कि सर्वथा असत् तो नहीं किन्तु असत्-जैसा मानने लगा। आत्मारूप ज्ञेय पदार्थके रहते भी औपाधिक धर्मवाले पदार्थों (देहादि) के न होनेसे कुछ होकर भी न होने-जैसा मानता था।

यहाँ विचार हो सकता है कि लयके समयमें एक ही स्थानमें सत् और चित् दोनोंका तिरोभाव हुआ था तो फिर आविर्भाव (उद्‌गम) के समय भी दोनोंका उद्‌गम होना चाहिये था फिर चेतन तो पैदा हो गया और जड़ (सत्) का प्रादुर्भाव क्यों न हुआ ? इसका उत्तर देते हैं कि 'सुप्त-शक्तिः'। भगवदिच्छासे प्रपञ्चोद्बोधक शक्तियाँ अभीतक सो रही थीं। इसलिये प्रपञ्चका भी उद्बोधन न हुआ। इसपर यह आशङ्का हो सकती है कि तो फिर उसे 'मैं कुछ नहीं हूँ' यह

अज्ञान भी कैसे हुआ। अज्ञान भी तो एक तरहसे ज्ञान ही है। जब सब उद्बोधक शक्तियाँ सो रही थीं तो अज्ञान भी कैसे पैदा हुआ। इसका इतना ही उत्तर है कि चिद्रूप होनेसे इसकी ज्ञानशक्तिका लोप न पूर्वसृष्टिमें हुआ था और न अब हुआ। धर्म-धर्मी दोनों साथ रहते हैं, आत्मा ज्ञानस्वरूप जब नित्य है तब उसका धर्मरूप ज्ञान भी नित्य उसके साथ रहेगा। प्रलयमें केवल उसका तिरोभाव हो गया था किन्तु जब आत्माका आविर्भाव हुआ तब उसके ज्ञान धर्मका भी आविर्भाव हो गया, केवल अमुक्त होनेसे अपूर्ण ज्ञान हुआ। आत्माके रहते भी उसने अपने-आपको नहीं-जैसा समझा।

दृश्यके अनुसार असत्त्व ज्ञान भी अनेक होते हैं, इसलिये दृश्यानुरोधी ये आत्माके असत्त्व ज्ञान जब बहुत-से इकट्ठे हो गये तब ये ही सब एक होकर माया हुई यह कहते हैं—

सा वा एतस्य संद्रष्टु शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ययेद निर्ममे विभु ॥

कुछ-का-कुछ समझना ही अन्यथा ज्ञान किंवा विपर्यय कहा जाता है। आत्मा सत् है, उसे असत् समझना यह अन्यथा ज्ञान है, यही अस्मृतिः और माया प्रकट हुई। यह समष्टि-

---

१ एतान्येवात्मासत्त्वज्ञानानि एकीभूतानि मायारूपेण जातानी-त्याह—सा वेति। यदात्मानमन्यथा ज्ञातवान् एषैव माया। सा पूर्वोक्ता प्रसिद्धा मोहिका सदसदात्मिका। स्वभावतः सन् अन्यथाङ्गीकारादसन्, एतादृश एवात्मा तस्याः। तस्या धर्मत्वमाह—एतस्य सद्रष्टुः शक्तिरिति। शक्तिरुत्तरकार्ये सामर्थ्यम्। मया सह वर्तत इति प्रत्ययस्य अलुक्, सुबन्त-प्रतिरूपको वाय निपातः। ततोऽणूप्रत्ययः सवर्णदीर्घो न ङीप्।

रूपा माया मूलाक्षरकी महाशक्ति मोहिनी है। यह जीव भी अक्षरका ही अंशांश है, इसलिये इसकी शक्ति भी उसी रूपमें पैदा हुई। इस मायाका आत्मा (स्वरूप) सदसत् है। स्वभावतः यह सत्य है पर इसने आत्माको असत्य स्वीकार कराया है इसलिये आपाततः असत्य है, इसलिये माया सदसत् है। और वह इस आत्माकी ही शक्ति है। आगे अपेक्षित कार्यमें जो सामर्थ्य उसे शक्ति कहते हैं। शक्ति भी धर्मीका ही धर्म है। 'मया (आत्मना) सह वर्त्तते सा माया।' आत्माके साथ ही रहती हो वह माया। ज्ञानरूप आत्माके साथ (अमुक्त अवस्थामें) अज्ञान भी रहता है इसलिये वह माया कहा जाता है। इस चिच्छक्तिरूपा मायाके द्वारा भगवान्‌ने इस जगत्‌को बनाया। यह जगत् व्यावहारिक है। पूर्व सृष्टिके जगत्‌से यह जगत् भिन्न है। 'इदं हि विश्वं भगवानिव इतरः' भिन्नाभिन्न है। सत्यासत्य है। आत्मांश सत्य है। मायांश (तद्रूपमें) असत्य है, वास्तवता सत्य है, नियत व्यवहार असत्य है। सद्रूप घट सत्य है, उसपर जो केवल घट-व्यवहार

यया मायया अनुद्धृतसारया इद जगदेव निर्ममे। यस्य भावरूपा शक्तिस्तस्य कर्तृत्वं व्यावर्तयति विभुरिति। भगवत्कर्तृके एव जगति जीवार्थत्वात्, तन्माययैव जगत्कृतवान्। येन केनापि जगत्करणाद् विभुरिति।
(भाग० सुबोधिनी ३।५।२५)

पूर्वस्माद् भिन्नं व्यावहारिक जगत्कृतवान् इत्यर्थः। पूर्वोक्तेष्वात्मादिषु भानविषयीभूतेषु, आत्मांशः सत्त्वेन, असत्त्वांशस्तमस्त्वेन, ज्ञानांशो रजस्त्वेन परिणममाणो गुणसाम्यावस्थारूप तत्स्वरूप कृतवान्। तेन सा गुणमयी प्रथमकार्यरूपा जातेति बोध्यम्। तत एव तस्या गुणक्षोभ इत्यर्थः। (प्रकाशे) तत्रैव गो० श्रीपुरुषोत्तमचरणाः।

हो रहा है वह असत्य है। 'व्यवहारः सन्निपातः'। यद्यपि यह जगत् भगवान्का ही बनाया है पर मुख्यमें जीवभोगके लिये बनाया है इसलिये इसमें मायाका अंश भी है। जिस अंशांशकी यह भावरूपा मायाशक्ति है उसने यह जगत् नहीं बनाया किन्तु मूलाक्षरने मायासे बनाया। वह विभु है, सर्वसमर्थ है, जिस किसीके द्वारा भी सब कुछ कार्य कर सकता है।

'मैं असत् जैसा हूँ' इस ज्ञानमें तीन पदार्थ हैं—आत्मा, असत् और ज्ञान। इसलिये आत्मांशसे सत्त्वगुण पैदा हुआ, असदंशसे तमोगुण पैदा हुआ और ज्ञानांशसे रजोगुण पैदा हुआ। ये तीनों समानरूपसे जब सम्मिलित होते हैं तब वह मायागुणमयी प्रथम कार्यरूपा प्रकृति कही गयी। यह जीव प्रकृति है, भगवत्प्रकृति नहीं। इसके द्वारा फिर सारा जगत् पैदा हुआ, अतएव इसे प्राकृतिक जगत् कहते हैं। जितने दूर-तक गुणका सम्बन्ध हो वह सब त्याज्य ब्रह्मवाद है। केवल ब्रह्म ही ग्राह्य है। यह बात भागवतके निर्वचनमें समझायी गयी है। इस बातको हम आगे चलकर अच्छी तरहसे समझावेंगे। अभी तो उस बातको समझनेका उपस्कर तैयार करके पाठकोंके सामने रखते हैं।

अस्तु, प्रकृतमनुसरामः—इस तरह हमने आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत्का सप्रमाण निरूपण कर दिया। आधि-दैविक उत्तम और आध्यात्मिक मध्यम जगत् है, अब एक तीसरा जगत् और है यह आधिभौतिक जगत् है और जो आपाततः हमारी दृष्टिके सामने है। यह उन दोनों जगतोंके ऊपर आ

रहा है। हमारी दृष्टि और उन दोनों विश्वोंके मध्यमें आ रहा है इसलिये कनिष्ठाधिकारियोंकी दृष्टि प्रथम इसीपर पड़ती है और इसीलिये इसमें आसक्त होकर जीव अहन्ता-ममता-संसार-में फँसकर अनादिकालसे न जाने कहाँतक जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा रहेगा।

इसका भेदन करके दृष्टि आध्यात्मिक जगत्पर पहुँचती है और उसको भेदकर आधिदैविक जगत्पर पहुँचती है। पहली दृष्टि प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप है। सांसारिक दृष्टिवाले अधिकारियोंकी दृष्टि आधिभौतिक जगत्पर होती है, अतएव त्रिगुणात्मक शास्त्रोंके द्वारा कभी कहीं प्रवृत्ति होती है तो कभी कहीं निवृत्ति भी होती है पर यह निवृत्ति आत्यन्तिक नहीं है। सांसारिक जाग्रत्की तरह है। इस अधिकारकी निवृत्ति प्राथमिक ज्ञान और भक्तिके द्वारा निवृत्त होती है, उस समय जीवको यह समझ होती है कि मैं ही ब्रह्म हूँ और मेरे अज्ञानसे ही यह सारा जगत् झूठा ही मुझमें ही कल्पना किया गया है। मैं ही केवल ब्रह्म[1] हूँ, मुझमें ही यह जगत् पैदा हुआ है, पर वास्तविक नहीं केवल कल्पित है। यह बुद्धि कुछ शुद्ध है पर प्रथमा है। इस जगत्का भी तृतीय स्कन्धमें ही वर्णन है।

साध्वेतद्व्याहृतं विद्वन्नात्ममायायनं हरेः।
आभात्यपार्थं निर्मूलं विश्वमूलं न यद्बहिः॥

---

१ प्रथमाधिकारार्थमाह—यया मत्या अहमेव ब्रह्म, मय्येव सकलं जातम्, परं मायया कल्पितम्। अस्य जगतः प्रतीतिमात्रस्य, अहं ब्रह्म अधिकरणम्, मायाकरणमिति ज्ञातवानित्यर्थः।

(भाग० सुबोधिनी १।५।२७)

भगवान्, ब्रह्मरूप जगत्, और भगवान् ही जगत्‌का कर्ता है, यह तीनों बात श्रुतिसिद्ध हैं, सत्य हैं। सर्वधर्मविशिष्ट भगवान् सत्य है, श्रुतिसिद्ध है। जगत् ब्रह्म है, सत्य है और श्रुतिसिद्ध है। और भगवान्‌का कर्तृत्व भी श्रुतिसिद्ध और सत्य है। परन्तु मूल ब्रह्मरूप ही वह जगत् कनिष्ठाधिकारियोंको असत्य दीखता है। चतुःश्लोकीमें 'ऋतेऽर्थम्' श्लोकसे जिसका निरूपण किया वह माया (जीवमाया) जीवोंके ज्ञानके साथ ही लगी हुई है, वह माया ही ब्रह्मरूप जगत् किंवा ब्रह्मको ही विषयाकार आत्मा और जड पृथक्-पृथक् रूपसे दिखाती है। सर्वाश्रय विषय ब्रह्म (ब्रह्मरूप जगत्) के और हमारी दृष्टिके आगे यह मायाका तैयार किया हुआ सर्ग दीखता है, वास्तवमें यह झूठा है, कुछ है ही नहीं तथापि दीखता है, अन्यख्यातिमात्र है। ब्रह्मको छोड़कर मायामात्रकी ख्याति (ज्ञान) हो रही है। ज्ञान और ज्ञेय वार्तामात्र है वस्तु कुछ नहीं है।

---

१ जगत्, भगवान्, कर्तृत्व च श्रुतिसिद्ध सत्यमेव। सृष्टस्य ब्रह्मस्वरूपस्य तथात्वप्रतीतौ व्यामोहिकया मायया मध्ये अन्यथैव प्रत्याय्यते। मायाकृतो योऽन्तरासर्गः स तु अपार्थमेवाभाति। वस्तु दूरीकृत्य निर्विषयकमेव ज्ञान मायाकृत यत्किञ्चिद्विषयत्वेन भाति। एवमेव हि शुक्तिकाया रजतप्रतीतिरन्तरा भासते तलस्पर्शे च निवर्तते। युष्माकमिति वचनान्न सर्वेषामयमनुभवः। अत एव 'सत्य चानृत च सत्यमभवत्'। इत्युभयथा प्रतीयमान सत्यमेव वस्तुतो जातमिति बोधयति। मध्यस्थमात्रानुवादो वा मायावादादियत्। कि च, विश्वस्य यन्मूल तद्बहिर्विषयेषु (बाह्यपदार्थेषु) नास्ति, भगवतो मायातीतत्वात्। किन्तु बुद्धेः सकाशादुद्गता मध्य एव स्फुरति। (भाग० सुबोधिनी २। ७। १५)

वस्तु ब्रह्मको दूर रखकर निर्विषयक ज्ञान ही मायासे आवृत्त होकर किसी विषयको दृष्टिके आगे खड़ा कर देता है। वास्तवमें यह जगत् निर्मूल है, असत्य है। मायामात्रसे दीखता है, केवल मध्यमे ही स्फुरित होता है और मूल ब्रह्मरूप विषयके स्पर्श होनेपर यह नष्ट हो जाता है। शुक्तिरजतकी तरह। शुक्तिकी चाँदी भी सीपका यथार्थ ज्ञान न होनेसे मध्यमें दीखने लगती है किन्तु तलस्पर्श (सीपका यथार्थ ज्ञान) होनेपर वह भ्रम जाता रहता है। वहाँ भी माया (अन्य) की ख्यातिमात्र है, वस्तु कुछ नहीं। इसीका अनुवाद 'अन्यद् युष्माकमन्तरा भवति' इत्यादि श्रुतियोंमें किया है। यद्यपि यह जगत् झूठा है निर्मूल है, मायामात्र है तथापि ब्रह्म है। क्योंकि 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' 'विज्ञानं चाविज्ञानं च' इत्यादि श्रुतिवचनोंमें कहा है कि सत्य और अनृत (झूठा) दोनों सत्य ब्रह्म ही बन गया है, दोनों रूप ब्रह्मके ही हैं, सब कुछ ब्रह्म है 'सर्वं ब्रह्म'। इसलिये यहाँ भी ब्रह्मवाद है किन्तु गौण ब्रह्मवाद है। जो वस्तु जिस स्वभावकी होती है वह उसी स्वभावकी रहती है, हमारे शास्त्रार्थ करनेसे या न समझनेसे उसमें फेरफार नहीं हो सकता। यह जगत् इसी प्रकार इसी स्वभावका है। असत्य रहते भी सत्य है। किंवा सत्य होते भी असत्य है। यही भगवान्‌की माया किंवा सामर्थ्य है कि जो तुम्हारे बना लिये नियमोंसे सर्वथा विरुद्ध है।

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्॥

(भा०)

इस प्रकारसे हमने तीन प्रकारके जगत्‌का निरूपण किया है। यह तीनों प्रकारका जगत् ब्रह्म है। यही बात अति संक्षेपसे श्रुतिने भी कह दी है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'इदं दृश्यमानं श्रुतं च सर्वं जगत् ब्रह्म' जो कुछ यह देखने और सुननेमें आता है वह सब-का-सब ब्रह्म है, ब्रह्मरूप है। 'सर्वं ब्रह्म' इसके दो अर्थ होते हैं—सब कुछ ब्रह्म है, और सब-का-सब ब्रह्म है। पहला खण्ड ब्रह्मवाद और दूसरा अखण्ड ब्रह्मवाद है। मुख्य ब्रह्मवाद और गौण ब्रह्मवादका भेद भी इसी तरह सूक्ष्म है। तीनों जगत् ब्रह्म है पर प्रकारमें भेद है। सब श्रुतिशास्त्रोंका समन्वय हो सके उसी प्रकारका विचार करना उचित है। वह यह है—

यथा सर्वाविरोध॰ स्यात्तथैवात्र विचारणम्।
सर्वरूपसमर्थत्वमतो ब्रह्मणि गीयते॥
अन्यथा प्रतिभानं यदुच्चनीचादिभेदतः।
तद्भान तस्य कर्ता च हरिरेव तथाविधः॥
यत्किञ्चिद्‌दूषण त्वत्र दूष्यं चापि हरि स्वयम्।
विरुद्धपक्षाः सर्वेऽपि सर्वमत्रैव शोभते॥

(कारिका भा० २।१।३२)

यावत्प्राप्य सब श्रुतियोंकी अविरोधेन सङ्गति लगानेके लिये ही ब्रह्मवादसिद्धान्तकी उत्पत्ति हुई है। 'श्रुतयो यत्र शेरते' सब श्रुतियाँ अन्य-अन्य पदार्थोंमें भ्रमण करती हैं किन्तु कहीं भी उन्हें विश्राम नहीं मिलता, उनका वास्तव समन्वय नहीं होता किन्तु जब वे ब्रह्ममें पहुँचती हैं तब वे सोती हैं। अर्थात् उन्हें विश्राम मिलता है उनका वास्तविक समन्वय हो जाता है।

जो लोग जगत्को एक तरहका ही मानकर बैठ जाते हैं उनके मतमे सब श्रुतियोंका समन्वय होना असम्भव है। सर्व-शास्त्रसमन्वय एक ब्रह्मवादमे ही होता है। जो लोग श्री-मद्वल्लभाचार्यानुयायी बनकर भी अपने आपको श्रौत कहते रहते भी जगत्को सत्यमात्र मानकर कृतकृत्य हो जाते हैं हमारी समझमें वे भी उन्ही मतवादियोंकी गणनामें हैं। ब्रह्म सबका है सर्वत्र है सर्वानुयायी है, सब है इत्यादि सिद्धान्त ही सत्य और श्रौत है और यही ब्रह्मवाद है। ब्रह्ममें यदि सामर्थ्य है और सब तरहकी सामर्थ्य है तो अवश्य वह सब कुछ है, जगत्‌रूप ब्रह्म सत्य भी है, झूठा भी है। उसे केवल सत्य ही मान बैठना पक्षपात है। निष्पक्ष ब्रह्मवादसिद्धान्त 'सर्वं ब्रह्म' है। और यही मुख्य ब्रह्मवाद है। अन्य सब गौण ब्रह्मवाद हैं। प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल सब कुछ ब्रह्म है। विषय, भान, कर्ता और प्रकार सब कुछ ब्रह्म है। जो कुछ लीला है वह सब प्रकारकी है तो भी भगवान्‌की है, उसमें भली और बुरी क्या? जो इस तरहसे उसमें पक्षपात-दृष्टि रखते हैं वे ब्रह्मवाद-सिद्धान्तके सर्वथा अनभिज्ञ हैं।

सर्वानेव गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥

(षोडशग्रन्थ)

सर्वरूपसे सर्वत्र विद्यमान रहनेवाले भगवान्‌के सब-के-सब गुणोंका जो बुद्धिमान् भक्त लोग समानभावसे वर्णन करते हैं वे अमृतसमुद्रकी तरह गम्भीर और शुद्ध भाववाले भक्त हैं। उनके वचनामृतका पान अति दुर्लभ है।

गुण, दोष, दूषण प्रभृति जो कुछ पदार्थ हमें निकम्मे और नीचेमें नीचा, उच्चमें उच्च दीखता हो वह भी ब्रह्म है। अतएव भगवान्‌ने आज्ञा की है कि 'द्यूतं छलयतामस्मि' कपटका खजाना द्यूत भी मेरी विभूति है। सर्वसमर्थको सब कुछ शोभित होता है। इसलिये किसी एक प्रकारका ही ब्रह्मको मान लेना ब्रह्मवादके ज्ञानकी कमी है। देवर्षि नारदजीने वेद-व्यासको भागवतका उपदेश देते हुए कहा है—

> इद हि विश्व भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवा॰।
> तद्धि स्वय वेद भवास्तथापि वै प्रादेशमात्रं भवत प्रदर्शितम्॥

श्रीमद्भागवतमें भगवल्लीलाओं (चरित्रों) का वर्णन है। द्वितीय स्कन्धमे तो भगवच्चरित्रोंका ही नाम भागवत कहा है। जहाँ कहीं भगवच्चरित्रोंका निरूपण और श्रवण करनेका विधान किया है वहाँ यह भी विचार किया है कि भगवच्चरित्र[1] क्या वस्तु है। अनेक शास्त्रोंसे यह तो सिद्ध है कि जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलयलीला भी भगवान्‌का ही चरित्र है। किन्तु भगवच्चरित्र रहते भी वह भगवान्‌से भिन्न है किंवा भगवान्‌का ही स्वरूप है, यह विचार भी होना आवश्यक है। यदि जगत् भी भगवान्‌का स्वरूप नहीं है, यदि

---

१ भगयत॰ स्वरूप चरित्र च निरूपणीयम्, तद्द्वय भेदन न निरूपणीयम्। तथा सति चरित्रस्यानात्मत्वेन तद्भावनाया ससारः स्यात्। अतो द्वयमभेदेन निरूपयति—इद हि। विश्वमनूद्य भगवत्त्व विधीयते। तथा सति सर्वत्र भगवद्दृष्टिश्चेत्कृतार्थो भवतीति कार्यं (लोकबुद्ध्या) भगवत्त्वेन निरूपितम्। 'सर्वं खल्विद ब्रह्म'। उत्तममध्यमाधमाधिकारि-भेदेन त्रेधात्र निरूपण कर्तव्यम्। तत्रोत्तमे निरूपितम्। मध्यमे त्वेवम्-'इद विश्व भगवानिव (इतरः) न तु भगवान्।

उसमें और भगवान्में सर्वथा भेद है। और जगत्-सृष्टि, स्थिति, प्रलय भी भगवान्से सर्वथा पृथक् है तो फिर अनात्म और हेय होनेसे उसकी चर्चा सुननेसे तथा उसकी भावना भी करनेसे संसारकी ही प्राप्ति होगी, मोक्ष नहीं। किन्तु सो नहीं है, सर्व ब्रह्म, तथा भगवान्से यह भगवद्रूप जगत् (भगवान्) किस प्रकार प्रकट होता है, भगवान् जगत्का पालन कैसे करते हैं और फिर किस तरह उस स्वनिर्मितका ही संहार करते हैं यह चरित्र श्रवण करनेसे मोक्ष मिलता है संसारकी निवृत्ति होती है यह सब शास्त्र डङ्केकी चोट कह रहे हैं। अब यदि जगत् भगवान् न होता यदि वह अनात्मपदार्थ होता तो यह कैसे हो सकता था।

यदि कहो कि जगत्के सुननेसे मोक्ष नहीं होता किन्तु जगत्के बनानेवालेका चरित्र श्रवण करनेसे मोक्ष मिलता है। तो भी ठीक नहीं, 'जगत्के बनानेवालेका चरित्र' इस वाक्यमें जगत् और ईश्वर दोनों हैं तो दोनोंका ही श्रवण और मनन करना पड़ेगा ऐसा तो हो नहीं सकता कि कार्यको छोड़ दें और कर्ताका ही श्रवण, ध्यानादि कर सकें। ऐसी हालतमें उस श्रवण और भावनाका फल कुछ संसार और कुछ मोक्ष-फल हो सकता है न कि शुद्ध मोक्ष। इसलिये मानना पड़ेगा कि भगवान् और भगवान्का चरित्र दोनों एक हैं अतएव भगवच्चरित्रके श्रवण करनेसे मोक्ष होता है। और यही बात 'इदं हि विश्वं भगवान्' इस श्लोकमें कही है।

इस दुनियामें तीन प्रकारके अधिकारी हैं—सात्त्विक, राजस, तामस अर्थात् उत्तम, मध्यम और अधम। इन तीनों

अधिकारियोंकी दृष्टिसे इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें तन्त्रसे तीन तरहके वाक्य माने गये हैं, 'इदं हि विश्वं भगवान्, इदं हि विश्वं इतरः भगवानिव, इदं हि विश्वं भगवान् इतरः।' और उसमें तीन कारण दिये है—

'यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः' (सार्वविभक्तिकस्तसिः) यतः (यत्र) जगतः स्थितिरस्ति, यतो यस्माद् जगतः संहारो भवति, येन जगतः सर्गो भवति।

अर्थात् उत्तमाधिकारीकी दृष्टिमें यह सारा जगत् सर्वदा (सुवर्णमें कड़ेकी तरह) भगवान्में ही स्थित है, इसलिये यह जगत् साक्षात् भगवान् है। जगत् और भगवान्में अणु-मात्रका भी भेद नहीं है, दोनों एक ही है। कनिष्ठाधिकारी यह समझता है कि भगवान् जगत्का संहार करनेवाला है अर्थात् भगवान्से जगत् बिल्कुल पृथक् है। जगत् नाशवान् है और भगवान् तो नित्य है, नित्यानित्यका ऐक्य कैसा? और मध्यमाधिकारी यह जानता है कि जगत् भगवान्से पैदा होता है, जैसे मिट्टीसे घड़ा पैदा होता है। कुछ भेद भी और

---

[१] तेनात्र सन्माननादिकं कर्तव्यं नासक्तिः। निकृष्टे तु इदं विश्वम्, भगवानितरः अस्मादन्यः। अतः प्रपञ्चदर्शी बहिर्मुखो भ्रष्टो भवति। नन्वेकस्य जगतः कथं त्रिरूपत्वम्? तत्राह—यतो जगत्स्थान०। तत्र जगतः स्थितिर्भगवत्येवेति भगवानेव जगतीति स्वाधारत्वाद्भगवतः भगवानेव जगत्। मध्यमे तु भगवतः सकाशाज्जगदुद्भवः तेन कार्यकारणयोस्तादात्म्या-त्कार्यात्मना भेदः कारणात्मना अभेद इति 'भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्य-मिति वचनाद् जगद् भगवानिव। मूढे तु भगवतः प्रलयकर्तृत्वान्नाशप्रति-योगि जगत्। भगवांश्च सदातन इति इतरः। (भाग० सुबोधिनी १।५।२०)

कुछ अभेद भी है। दोनोंमें भेदसहिष्णु अभेदसम्बन्ध (तादात्म्य) है। जगत् ब्रह्मरूप है, ब्रह्मात्मक है, ब्रह्मका कार्य है इत्यादि कहनेवाले मध्यमाधिकारी हैं।

कनिष्ठाधिकारीकी समझ और ही है, वह जानता है कि जब भगवान् जगत्का संहार करनेवाला है तब उसका और इसका ऐक्य कैसे हो सकता है। भगवान् नित्य है, जगत् नाशवान् है, इसलिये भगवान् अलग, जगत् अलग। कनिष्ठाधिकारी बहिर्मुख है। मध्यमाधिकारी खिचड़ी है और उत्तमाधिकारी अन्तर्मुख है। जहाँ कुछ भी भेददृष्टि है वहाँ बहिर्मुखताका सम्भव है, जहाँ बिल्कुल भेददृष्टि है वहाँ बहिर्मुखता है, और जहाँ भेददृष्टि बिल्कुल नहीं है वहाँ बहिर्मुखताका सम्भव ही नहीं है। जहाँ कार्यकारणभेदरहित भान होता है वे उत्तमाधिकारी हैं, उनका वाद (विचार) मुख्य ब्रह्मवाद है। जिन्हें कार्यकारणभेदसहित अभेद मालूम देता है वे मध्यमाधिकारी हैं उनका विचार गौण ब्रह्मवाद है। और जिन्हें जगत् और भगवान्में बिल्कुल भेद दिखायी देते हैं वे बहिर्मुख कनिष्ठाधिकारी हैं उनका वाद ब्रह्मवाद ही नहीं है।

अब यहाँ एक महती आपत्ति आती है कि जब सारा जगत् निरा ब्रह्म है, ब्रह्ममें और जगत्में कुछ भी भेद नहीं तो फिर स्त्रीपुत्रादिकी सेवापूजा करनेसे भी मोक्ष होना चाहिये, स्त्रीपुत्रगृहादिमें आसक्ति करनेसे मोक्ष मिलना चाहिये, संसार नहीं। यह बुरा और यह भला ये भेद क्यों? धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक आदि सब व्यवहार ही व्यर्थ हो

जायँगे। शास्त्र, कर्तव्य, साधन, फल आदि सब पदार्थोंका विप्लव हो जायगा, बड़ा अनर्थ हो जायगा।

इसकी यथावत् व्यवस्था करनेके लिये भगवान्‌ने चतुःश्लोकीमें ब्रह्माजीके आगे आज्ञा की है। 'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत' इत्यादि।

व्यवहारका विप्लव करना या उसको यथावस्थित चलाना यह किसीके वशकी बात नहीं है। यह भी भगवान्‌ने अपने ही हाथमें रक्खा है। तुम्हारी ताकत नहीं है, कि तुम उसकी इच्छाके या क्रियाके विरुद्ध कुछ भी इधर-उधर कर सको। जिस समय भगवान्‌ने अपनी क्रीडाका प्रारम्भ किया उसके पहले ही उस जगत्‌को यथावस्थित चलानेवाले अधिकारीगण भी पैदा कर दिये। उन अधिकारियोंमें एक माया भी है।

सत्, चित् और आनन्द ही तो फैल-पसरकर जगत् हो गये हैं, यह तीन पदार्थ ही तो सारा जगत् है। इन तीनों-की पृथक्-पृथक् शक्तियाँ भी इनके साथ ही सर्वदा रहती हैं, आनन्दकी सर्वभवनसामर्थ्य शक्ति है, चित्‌की मोहिका मायाशक्ति है और सत्‌की क्रियाशक्ति है, यह हम पहले कह चुके हैं। आनन्दने सर्वभवनसामर्थ्यरूपा अपनी शक्तिसे विविध वैचित्र्यसहित अनन्त रूप धारण किये। सत्‌की क्रिया-शक्ति प्रत्येक समय उसमें परिवर्तन करती रहती है। और चित्‌ने अपनी मोहिका शक्तिके द्वारा सबको मोह कराया। विचित्रमें अल्पज्ञोंको मोह कराना चिच्छक्तिका ही कार्य है।

इस भगवत्क्रीडामें मोहकी भी आवश्यकता है। मोह भी एक प्रकारकी भगवद्लीला है। एक तरफ प्रमाणप्रमेय-साधनफलरूपा सृष्टि तैयार है, और दूसरी तरफ उसमें प्रवृत्त होनेवाले जीव भी तैयार हैं। किन्तु मान लो यदि उनके हृदयसे मोह (भूल) पैदा न हो तो वह सब सृष्टि व्यर्थ हो जाती है। मोहसे ही प्रवृत्ति और मोहसे ही निवृत्ति होती है। या यों कहिये कि मोहसे ही जगत्का सारा व्यवहार चल रहा है।

दोषमें सङ्कोच होता है और गुणमें प्रवृत्ति होती है, यह दोनों कार्य मोहिनी मायाके कार्यके कार्य हैं। 'गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः' (श्रीमद्भा० स्क० ११) पदार्थमें अच्छा और बुरा देखना यही दोष है, क्योंकि पदार्थ तो न अच्छा है और न बुरा है, वह तो ब्रह्म है। प्रत्येक चित्के साथ उसकी शक्ति मोहिका माया रहती है। इसलिये उसे मोह होना दोष सहज है।

किन्तु इतना होनेपर भी कार्य न चला, क्योंकि मोहका नैयत्य नहीं। यदि मोहका नैयत्य (यथायोग्य क्रम) न हो तो फिर व्यवहारका चलना यथावस्थित नहीं हो सकता। अनैयत्यमें यह दोष है कि प्रवृत्ति होने लगे तो फिर प्रवृत्ति-ही-प्रवृत्ति चले, और जो निवृत्ति हुई तो निवृत्ति-ही-निवृत्ति होती रहे। उसे रोकनेवाला कौन, या उसकी व्यवस्था कौन करे। बच्चा जिस वस्तुको लेना चाहे तो फिर चाहे ब्रह्मा भी निषेध करें, चाहे मृत्यु भी आ जाय कभी पीछा न हटे। और जब किसी चीजको न लेना चाहे तो फिर उसकी निवृत्तिका हठ भी सुदृढ़ ही रहता है। पागलको कब निवृत्ति होगी

और कब प्रवृत्ति होगी, और कहाँ-कहाँ होगी, यह कौन कह सकता है। बालक और पागलकी प्रवृत्ति और निवृत्तिका नैयत्य नहीं है। उनके किसी भी नियमकी अव्यवस्था है।

किन्तु जगत्के व्यवहारोंमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंका नैयत्य है। कहाँ और कब निवृत्ति होनी चाहिये और कहाँ कब प्रवृत्ति होनी चाहिये यह यहाँ व्यवस्थित है। गुणमें प्रवृत्ति होती है और दोषमें निवृत्ति। यह कार्य केवल मायाके मोहसे ही नहीं हो सकता था इसलिये भगवान्ने प्रमाणकी सृष्टि की। प्रमाणकी सृष्टि यदि न होती तो प्रमेय, साधन और फल सब-के-सब धरे ही रहते। किंवा उनका बड़ा भारी दुरुपयोग होता रहता। यदि आँख न होती या प्रत्यक्षका कोई साधन न होता तो न जाने ट्रेन (रेल) कितनी बार आपसमें टक्कर खा-खाकर चूर-चूर होती रहती। किन्तु घबरायें नहीं यह तो सम्भावनामात्र है। सृष्टिकर्ता इतनी भूल नहीं कर सकता। उसने इन बातोंकी सब व्यवस्था पहले ही कर दी है।

आँख, कान, नाक, त्वचा और शब्द ये प्रमाण हैं। जो पदार्थ किसी समझनेके पदार्थकी समझ होनेमें प्रधान साधन हो वह प्रमाण कहा जाता है। पूर्वोक्त पञ्चेन्द्रिय और शब्द, हमको किसी प्रमेयका ज्ञान होनेमें प्रधान साधन हैं, इन्हें

---

१ एव तज्जलानिति हेतु विविच्य सर्वमात्मैवेति प्रमेय विनिश्चित्य प्रमाणवैयर्थ्यमाशङ्क्य प्रवृत्तिसङ्कोचपरत्याद् गुणदोषविषयत्वात् साप्येका भगवल्लीलेति माया निरूपयति।

प्रमाण कहना उचित ही है। प्रमाणके द्वारा हमारी प्रवृत्ति-निवृत्तिकी व्यवस्था होती है, गुणमें प्रवृत्ति और दोषमें निवृत्ति।

जिसको हम समझना चाहें उसे प्रमेय कहते हैं। सारा जगत् प्रमेय है। किन्तु प्रवृत्ति-निवृत्तिके योग्य कुछ थोड़ा ही भाग है, क्योंकि सारा जगत् अनन्त है और अगम्य है। हम यह तो पहले ही सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि सब-का-सब जगत् केवल ब्रह्म है, न वह बुरा है और न भला है, न गुण है न दोष। ऐसी अवस्थामें यदि जगत् अपने उसी ब्रह्मरूपमें सबका विषय होता तो फिर उसके व्यवहारमें किसकी प्रवृत्ति और किसकी निवृत्ति होती। व्यवहार ही बन्ध हो जाता। भगवल्लीला ही रुक जाती। सो न हो, क्रीडा चलती ही रहे, प्रवृत्ति-निवृत्ति जारी रहें इसलिये भगवान्ने माया (अविद्या) शक्तिका निर्माण किया। बनाकर इसका जीवके साथ विवाह भी कर दिया है। और कह दिया है कि 'धर्मे अर्थे कामे च त्वयेयं नातिचरितव्या।' जबतक तुम रहोगे तबतक यह तुम्हारे साथ ही रहेगी या जबतक यह रहेगी वहाँतक तुम्हारे साथ ही रहेगी। दोनोंमें (जीवपना या अविद्या) एक न रहेगा तभी तुम दोनोंका साथ छूटेगा अन्यथा नहीं—

> यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन् कालमाययोः।
> रमेत गतसन्देहस्त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम्॥
>
> (श्रीमद्भा० २। ९। ३)

अर्थात् जहाँतक जीव, जीव रहेगा, इसको देहाध्यासादि रहेंगे और आत्मविस्मृति रहेगी वहाँतक इसके साथ माया भी रहेगी।

कितने ही कहते हैं कि जो दीखता है वह उस पदार्थ (विषय) का ही धर्म है ऐसा क्यों नहीं मानते। वह पदार्थ ही वैसा है यह माननेमें क्या हर्ज है? ठीक है यदि विचारमें आ जाय तो मान सकते हैं। किसी विषयका विचार करनेमें प्रमाणकी बड़ी आवश्यकता है। सब प्रमाणोंमें दो प्रमाण बलवत्तर हैं—शब्द और मनःप्रतीति। आँख वगैरह प्रमाणोंमें भी प्रतीति मौजूद हैं तथापि वे सब प्रतीतियाँ मनःप्रतीतिमें ही सम्मिलित होती हैं, उन सबका मनःप्रतीति ही आधार है। ये दोनों प्रमाण दो तरहके हैं—भ्रान्त और अभ्रान्त। भ्रान्त शब्द और भ्रान्तप्रतीतिको कोई भी बुद्धिमान् प्रमाण नहीं मानते, किन्तु सब लोग अभ्रान्त शब्द और अभ्रान्त मनःप्रतीतिको ही प्रमाण मानते हैं।

वेदरूप शब्द अभ्रान्त प्रमाण है यह सब आस्तिक स्वीकार करते हैं। वह वेद 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'पुरुष एवेदꣳ सर्वम्' इत्यादि वाक्योंके द्वारा सारे जगत्को ब्रह्म कहता है। और ब्रह्मवेत्ताओंकी अभ्रान्त प्रतीति भी यही कहती है कि 'सारा जगत् ब्रह्म है।' ऐसी अवस्थामें हमें मानना पड़ेगा कि नित्य चित् और आनन्दस्वरूप ब्रह्ममें जो यह अनित्यता, जड़ता, दुःखरूपता और अस्थिरता दीख रही है, अवश्य यह इसका धर्म या इसकी विषयता नहीं है, किन्तु किसी औरका ही धर्म होकर कहीं-का-कहीं, अन्यमें अन्यका आभास हो रहा है। बस यही व्यामोहिका माया है। यह चेतनकी ही शक्ति है और चित्को ही मोहित करती है।

निद्रा या मूर्च्छा हमारी ही शक्ति है किन्तु कभी-कभी हमें ही बेभान कर देती है। वास्तवमें दुःसङ्ग ऐसा ही होता है।

यहाँ एक यह प्रश्न हो सकता है कि विषयके विना विषयता (उसका धर्म) कभी नहीं रह सकती तो फिर यह विषयता किसकी है, इस विषयताका विषय कौन है ? इसका उत्तर यह है कि विषय ब्रह्म है, वह अपनी क्रीडा चलानेके लिये अनन्त रूप धारण करता है यह हम पहले कह चुके हैं। उन अनन्त रूपोंमेंसे ही चिच्छक्तिरूप व्यामोहिका माया भी उस सर्वाश्रय ब्रह्मका ही रूपान्तर है, उसका ही यह विषयता (धर्म) है। यह धर्मरूपा भी धर्मी है। सती होकर भी असती है। कुछ नहीं है तथापि प्रतीत होती है, उसका स्वरूप ही ऐसा है। जो पदार्थ जैसा हो उसे वैसा ही मान लेना उचित है। विषयतारूप माया आप ही धर्म है और आप ही उसका आधार है। यह असत्यरूपसे ही सत्य है, क्योंकि ब्रह्मका ही रूपान्तर है। जैसे तम और आभास (प्रतिबिम्बादि) । अन्धकार दीखनेमात्रका है पर है सही। जहाँ तेजका अभाव होगा वहाँ ही वह दीखेगा। उसका आधार कुछ नहीं है, वही उसका आधार और वही उसका आधेय (धर्म)। यह पदार्थ ही ऐसा है। तम और प्रतिबिम्बादि भी भगवान्‌का ही रूप हैं। यह रूप भी किसी कार्यके लिये भगवान्‌ने ही धारण किये हैं। यही प्रकार आच्छादिका प्रभृति मायाका है। यदि प्रतिबिम्बको हटाना चाहते हो तो उपाधि (काँच) को हटा दो। यदि तमको दूर करना चाहते हो तो प्रकाशको प्रकट करो। यदि

भी समाप्त हो जाती है तब यह जीव अपने महिमा अक्षर-ब्रह्मकी सम्पत्तिको प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मरूप हो जाता है।

यर्ह्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते॥
(श्रीभा०)

प्रमेयको समझानेवाले प्रमाण दो प्रकारके हैं—लौकिक और अलौकिक। प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण प्रमेयके यथार्थ स्वरूपको समझाने या दिखानेको असमर्थ हैं, क्योंकि वाह्य हैं, और ब्रह्मस्वरूप आन्तर है। सारा जगत् (प्रमेय) वास्तवमें ब्रह्म है। प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाण तो केवल जगत्के वाह्य स्वरूपको ही समझाकर उसमें ही प्रवृत्ति-निवृत्तिका विधान करते हैं।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। जो पुरुषको चाहिये उसे पुरुषार्थ कहते हैं। इन चार पुरुषार्थोंके साधन भी चार हैं और इन्हीं नामोंसे प्रसिद्ध हैं। लोकमें 'धर्म करता है' यह भी प्रसिद्ध है और 'यह करनेसे तुम्हें धर्म होगा' यह भी प्रसिद्ध है इसलिये साध्य और साधन दोनों एक ही नामसे प्रसिद्ध हैं यह सिद्ध है। यह वात चारों पुरुषार्थोंमें समझ रखनी उचित है। इनमें दो पुरुषार्थ प्रवृत्ति-रूप हैं और दो निवृत्तिरूप। लौकिक काम और अर्थ, प्रवृत्ति-रूप है, और धर्म तथा मोक्ष निवृत्तिरूप हैं। अर्थ और काम दोनों पुरुषार्थ, जगत्में प्रवृत्ति कराते हैं किन्तु यदि इन दोनों-के साथ धर्मका सहयोग न रहे तो प्रवृत्ति ही अव्यवस्थित होकर एक दिन नष्ट हो जाय, इसलिये अर्थ-कामकी ही रक्षाके

लिये उनके साथ धर्मकी बड़ी अपेक्षा है। वह प्रवृत्तिमय निवृत्ति कराता है।

अर्थ-काममें प्रवृत्ति करानेवाले इन्द्रियादि प्रमाण जगद्वर्ति वस्तुओंके यथार्थ और आन्तर स्वरूपको नहीं जानते, वे तो केवल बाह्य अतएव त्याज्य (विषयतारूप) पदार्थको ही जगत् समझते हैं अतएव केवल प्रवृत्ति कराते हैं, चाहे उसका परिणाम कुछ भी आवे। किन्तु वेद और महर्षियोंने धर्म और मोक्षके साधन ऐसे इस तरह नियत किये हैं कि वस्तुका यथार्थ स्वरूप न समझनेपर भी वे निवृत्ति ही कराते हैं। धर्मरूप साधन दो प्रकारका है—लौकिक (दृष्टफल) और अलौकिक (अदृष्ट आत्मसुखादि फल)।

दृष्टफलादि लौकिक धर्म तो आत्माको अपने तरफ न लाकर देहके तरफ ले जाता है। पर अदृष्टफलादि अलौकिक धर्म चित्तशुद्धि कराकर कुछ आत्माके तरफ ले जाता है। इसलिये धर्मके साधन, प्रवृत्ति कराते हुए भी निवृत्ति कराते हैं, 'कर्ममोक्षाय कर्माणि०।' बालकको पढ़ाते समय जो शिक्षा-द्वारा तकलीफ होती है उसका परिणाम सुख है। सुखके लिये दुःख दिया जाता है। इसी तरह धर्मकी प्रवृत्ति भी निवृत्तिके लिये है। वर्णाश्रमादि धर्म, मनुष्यकी प्रवृत्तिका सङ्कोच कराते हैं 'ऋतौ भार्यामुपेयात्' इतनेसे ही धर्मके नियममें प्रवृत्तिमय निवृत्ति भरी हुई है। इस तरह क्रमशः उन नियमोंसे ही अन्ततः चित्तकी निर्मलता होकर आत्मा अपने अपनपेके तरफ झुकता जाता है और फिर मोक्षशास्त्रोक्त साधन मनुष्यको एकदम निवृत्त बनाकर आत्मामें लीन करा

देते है। उस समय उसे विषयताका भ्रम नहीं रहता। आत्माके साथ-साथ सारे जगत्का मूलस्वरूप समझमें आ जाता है। इन[1] साधनोंकी परम्परा और क्रम अन्यत्र दिये गये हैं वहाँसे विस्तारपूर्वक देख लेना चाहिये। मैंने भी नीचे टिप्पणीमें कुछ संक्षेपसे संग्रह कर दिया है।

जिसे हम जड जगत् समझते हैं वह सद्रूप ब्रह्म है। जिसे हम अल्पज्ञ चेतन समझ रहे हैं वह चिद्ब्रह्म है। 'जड जगत्' इत्यादि समझ विषयता है, भ्रम है, माया है और उसे ही सद्ब्रह्म समझना (देख लेना) वास्तव विषय है। माया अनेक है, ब्रह्म एक है। जब बुद्धि है तब जिज्ञास्य (विषय) अनेक अनन्त हैं और जब वही बुद्धि, ज्ञानका करणरूपा

---

१ तदर्थं प्रथम धर्मः। ततोऽन्तःकरणशुद्धौ वेदादिसत्प्रमाणे श्रद्धा। ततस्तदर्थस्य मननम्। ततो निदिध्यासनेन साक्षात्कार इव ज्ञानम्। ततो विषयेषु वैराग्यम्। ततः श्रवणादिसाधनभक्तिः। ततः परमभक्तिः। ततः सर्वत्र भगवत्साक्षात्कारो हृदि बहिरपीत्यर्थः।

(भाग० सुबो०)

आत्मस्वरूपज्ञान भगवत्स्वरूपज्ञान च नोपदेशसापेक्षम्। प्रमाणवस्तु-परतन्त्रत्वात्। पर प्रमाणवस्तुनोरावरण दूरीकर्तव्यम्। तत्र प्रमाणावरण दूरीकृतमिव। रजस्तमसोरपगमेन सत्त्वप्राकट्यात्। जीवात्मावरण माया।

(भाग० सुबो० १।१५।२९)

शुद्धे ह्यन्त•करणे प्रमाणेनोत्पादित ज्ञान आत्मावरण दूरीकरोति।

(३०)

ज्ञाने ब्रह्मसम्पत्तिर्जाता। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति।' द्वैते सर्वत्रानात्मनः प्रवेशात्सर्वत्रास्यात्मनः स्वरूपनाशसम्भया• स्थिता', मरणडभायात्। (३१)

मति हो जाती है तव जिज्ञास्य एक ही रह जाता है, ब्रह्म किंवा सत्। बुद्धि माया विषयता जगत्-अनेकता, त्याज्य ब्रह्म है और सत्-चित्-आनन्द ग्राह्य हैं। यही आश्रय हैं, यही मुख्य ब्रह्मवाद है।

इस तरह सर्वत्र यह तीन प्रकारके जगत् व्याप्त हैं। हमारी दृष्टिसे तीनों मिले हुए एक हैं। वेदद्रष्टा और सच्छास्त्रोंकी दृष्टिमें मिले हुए भी हैं और पृथक्-पृथक् भी हैं। अतएव वे लोग हमें इनका पार्थक्य करके अनासक्तिबोधन और सत्कारबोधन करा सके हैं। यदि यह केवल सत्य ही होता तो अनासक्तिका उपदेश व्यर्थ हो जाता और यदि सर्वथा असत्य ही होता तो फिर सत्कारोपदेश व्यर्थ हो जाता। उनको सब पदार्थ यथार्थ स्वरूपमें दीखते हैं अतएव वे ही सत्योपदेष्टा कहे जा सकते हैं। वस्तुको यथार्थ स्वरूपमें दिखाना ही श्रीमद्भागवतका कार्य है। ब्रह्मरूप केवल शुद्ध ब्रह्म ही ब्रह्म, जगत्, उपदेश्य और उपदेष्टाओंका कार्य नहीं बना सकता। वहाँ ग्राह्यत्याज्यविवेक नहीं हो सकता। प्रारम्भमें प्रवेश करनेके लिये ग्राह्य और त्याज्य दोनोंकी अपेक्षा है। त्याज्यका निदर्शन होनेपर ग्राह्यका ग्रहण सुगम होता है। त्याज्यसे ग्राह्यको पृथक् कर लेना ही विवेक है, यही ज्ञान है, और यही ब्रह्मवाद है। श्रीमद्भागवतमें यही भरा हुआ है। श्रीमद्भागवतका अर्थ ग्राह्यत्याज्यविवेक है। प्रत्येक पदार्थमें

---

१ व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥
(गीतोपनिषद्)

भी ग्राह्यत्याज्यविवेक भरा हुआ है। ग्राह्यत्याज्यविवेकसे ही श्रीमद्भागवतका प्रारम्भ हुआ है।

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥
दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥

भगवान् पुरुषोत्तमकी दश लीलाओंका निरूपण श्रीमद्भागवतमें है। दशवाँ आश्रय, आश्रय भी है और लीला भी है। धर्मी भी है और धर्म भी है। सूर्य तेजःपुञ्ज भी है और तेजस्वी (धर्मी) भी है। वास्तवमें वह धर्मी ही है, तथापि समझानेके लिये उसके धर्मोंको पृथक् दिखाना ही पड़ता है और जब वह समझमें आ जाता है तब उसके धर्म-का निरूपण उसमें ही छोड़ दिया जाता है। इसी आशयको लेकर कहना होगा कि श्रीमद्भागवतमें[1] केवल भगवान्का (धर्मीका) ही निरूपण है, पर प्रकार और धर्मोंके द्वारा है। नव प्रकार हैं, और दशम भगवान्, ब्रह्म, किंवा आश्रय, प्रकारी है, धर्मी है, आश्रय है। भागवतमें भगवान्को दूसरोंको समझाना है। इसलिये विस्तारकी अपेक्षा है। एकका विस्तार इसी प्रकारसे हो सकता है। धर्मी और धर्मोंका पृथक्करण करके विस्तार किया गया है।

दशम आश्रय है, ब्रह्म है, पुरुषोत्तम है। यही ग्राह्य है और इसीका वाद ब्रह्मवाद है, ग्राह्य ब्रह्मवाद है। इस दशम

---

१ दशधा ज्ञायते रूप हरेरन्यत्त्रिधा मतम्।
आध्यात्मिकादिभेदेन गुणतः कर्मतोऽपि वा॥
(भाग० सुबो० २।१०।१)

पदार्थकी विशुद्धि करनी है। किसी अनिर्वचनीय विशेष (फरक) के द्वारा शुद्धि (चुनकर निकालना) करनी है। सारे विश्वमेंसे आश्रयको चुनकर पृथक् कर लेना है ग्रहण करनेके लिये।

विशेष (फरक) के द्वारा ही किसी पदार्थको चुनकर निकालना होता है। यही 'विशुद्धिः विशेषेण द्वारेण शुद्धिः शोधनम्' है। आश्रयका शोधन करना है। आश्रय परब्रह्म है। उसको उसके नियत विशेषके द्वारा चुनकर अलग समझ लेना है। विशेष दश हैं यही भगवद्धर्म हैं यही भगवल्लीला है। दश लीलाकी अनन्त लीला हैं। जगत् अनन्त है तो विशेष धर्म और लीला भी अनन्त होनी ही चाहिये। उन सबमेंसे चुनकर परब्रह्मको ग्रहण करना है यही श्रीमद्भागवत है। अनन्त विशेषोंमेंसे किसी एकको ग्रहण कर लेना इसमें जितना श्रम होता है उससे कहीं कम श्रम, दश पदार्थोंमेंसे चुननेमें होता है, इसलिये श्रीमद्भागवतमें उन अनन्त विशेषोंको समेट-कर दश लीलाओंके रूपमें कह दिया है। प्रत्येक पदार्थ जब भगवान् है तब प्रत्येक पदार्थमें ये दशों पदार्थ होने चाहिये।

'अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः' इत्यादि।

सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊती, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—ये दश पदार्थ लीलाविशेष किंवा धर्म, प्रत्येक पदार्थमें रहते हैं। क्योंकि शुद्ध ब्रह्मवादमें सारा जगत् ब्रह्म है भगवान् है। दशम आश्रय, शुद्ध ब्रह्म है मुख्य ब्रह्म है, धर्मी है। और सर्गादि मुक्त्यन्त लीला, किंवा धर्म, किंवा विशेष, स्वस्वरूपसे गौण ब्रह्म हैं। इन लीलाओंमें तीन गुणोंका सम्बन्ध है इसलिये एक-एक त्रिकमें उत्पादकत्व,

स्थापकत्व और विलापकत्व शक्ति रही हुई है। सर्ग, विसर्ग और स्थान उत्पादक हैं, पोषण, ऊती और मन्वन्तर स्थापक हैं और ईशानुकथा, निरोध और मुक्ति ये तीन विलापक हैं।

जिस प्रकारसे इस भागवतनिर्वचनाध्यायमें इन नव पदार्थोंको लीला कही है, इसी प्रकारसे विमर्शाध्यायमें इन्हीं धर्मोंको अदीनत्व, लीलात्व, हसितत्व, ईक्षणत्व, उल्लासत्व, भ्रूत्व, भङ्गत्व, संसूचितत्व, भूरित्व और अनुग्रहत्व धर्म कहे गये हैं। इनमें दशम अनुग्रह, अनु—पश्चात् ग्रहः एकीभावः (प्रत्यापत्तिः) आश्रय है शुद्ध ब्रह्म है धर्मी है। जिस प्रकार आश्रय धर्म और धर्मी दोनों है इसी तरह अनुग्रह भी दोनों है।

अशरीर और सर्वव्यापक भगवान्‌का जो अव्यापक और अनित्य, शरीर किंवा स्वरूपग्रहण करना, बस यही सर्ग पदार्थ है। यह पदार्थ घृतके द्रवत्वकी तरह भगवान्‌का ही धर्म है। जिसको अपने काममें दूसरेकी अपेक्षा रहे वह दीन कहा जाता है किन्तु भगवान् अपने कार्यमें दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता अतएव यह सर्ग ही भगवान्‌का अदीनत्व धर्म है। भगवान् (आश्रय) ही अपने कार्यके लिये आप ही अव्यक्त सद्रूप (वैराज पुरुष) से प्रकट होता है। घटादि पदार्थमें भी कारणरूप भगवान् अव्यक्त सद्रूपसे प्रादुर्भूत हुआ है। इस प्रकारसे समष्टि-व्यष्टि दोनों तरहके पदार्थोंमें प्रविष्टाप्रविष्ट भगवान् (आश्रय) ही विद्यमान है। प्रविष्ट ब्रह्म गौण है और अप्रविष्ट मुख्य ब्रह्म है।

यहाँतक हम यह दिखा चुके कि जगत् तीन प्रकारका है—सत्य सत्यासत्य और असत्य। आधिदैविक, आध्यात्मिक

और आधिभौतिक। आनन्दरूप सच्चिद्रूप और मायिक (अनेक-विध)। मायिकके आन्तर सच्चिद्रूप है और सच्चिद्रूपके आन्तर आनन्दरूप जगत् है। तीनों मिले हुए हैं गङ्गाजीकी तरह। चातुर्मास्यमें कुछ बढ़ जाती है और गरमियोंमें घट जाती है वह जलरूपा गङ्गा पृथक् है। बढ़ते और घटते रहते भी पवित्र करनेकी शक्तिरूप जो गङ्गा है वह पृथक् है। और जिसका भक्तिभावके द्वारा कभी-कभी किसी एकाधको दर्शन होता है वह श्वेतमकरस्थिता किरीटकुण्डलमण्डिता मूर्तिमती गङ्गा भी पृथक् है। इस तरह तीनों पृथक् रहते भी मिली हुई है। गङ्गाके प्रवाहमें ही सब कुछ है। प्रवाह ही सब कुछ है यह रहते भी श्रद्धालु शास्त्रज्ञ और विवेकसमर्थ पुरुष इन तीनोंका पार्थक्य कर सकते हैं।

इसी प्रकार तीनों जगत् मिले हुए हैं, तीनों जगत् ब्रह्म है, और तीनों जगत् लीलास्वरूप हैं। इन तीनों जगत्में दो त्याज्य ब्रह्म है, तीसरा आधिदैविक जगत् ग्राह्य ब्रह्म है। तथापि ब्रह्मवेत्ताओंने विवेकके द्वारा इन तीनोंका पार्थक्य कर पाया है और अतएव वे इसके मोहसे बच जाते हैं। आनन्दरूप जगत् (भगवान्) सत्य है, आश्रय है, मुख्य ब्रह्म है। जीवके लिये यह अव्यवहार्य है। सच्चिद्रूप जगत्, जिसका हम व्यवहार कर रहे हैं वह सत्यासत्य है, मायोपबृंहित है और गौण ब्रह्म है और व्यवहार्य है। और आधिभौतिक मायिक जगत् असत्य है, ज्ञानमात्र है, वार्तामात्र है, गौण ब्रह्म है और बाह्य है, अव्यवहार्य है। आनन्दरूप जगत् (ब्रह्म) में मायाका स्पर्श भी नहीं है। उसमें भगवान् और भगवदीय रमण करते हैं। आध्यात्मिक

जगत्में मायाका स्पर्श है, उसमें सब जीव और भगवान् दोनों रमण करते हैं और आधिभौतिक किंवा मायिक जगत्में केवल माया-ही-माया है और केवल अबुध जीव रमण करते हैं।

यह बात व्यवस्थित रहते भी विद्वान् ज्ञानी भगवद्भक्त इस जगत्को विशुद्ध ब्रह्म ही देखते हैं। उन्हें इस जगत्में भगवान्के सिवा अन्यका दर्शन ही नहीं होता। उनको सब कुछ भगवान् मालूम होता है, उन्होंने ग्राह्यत्याज्यविवेक कर लिया है। यद्यपि इस तरहकी दृष्टि और वृत्ति होना संसारी जीवके लिये असम्भव-जैसी है तथापि यह सत्य है। भ्रान्त शास्त्र और भ्रान्त बुद्धिको छोड़कर सब शास्त्र और सब बुद्धियाँ कह रही हैं कि यह दृष्ट-श्रुत सारा जगत् केवल ब्रह्म है, शुद्ध भगवान् है, सत्य है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिके आशयमें तीनों प्रकारका जगत् है, क्योंकि भगवती श्रुति सर्वज्ञ प्राया है। और वास्तवमें जब तीनों प्रकारका जगत् मिला हुआ है और ब्रह्म है तब 'इदम्' और 'सर्वम्' के पेटमें सब ब्रह्मके सिवा क्या आ सकता है।

> प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः।
> सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम्॥

इस आध्यात्मिक (सच्चिद्रूप मध्यम) जगत्का उपादान पुरुष सहयोगिनी प्रकृति है, चरणाक्षर ब्रह्म आश्रय है और सद्रूप जगत्को, बाहर प्रकट करानेवाला काल है। और ये तीनों मे परब्रह्म सर्वाश्रय हैं। इस वाक्यसे प्राकृत जगत् भी ब्रह्म ही सिद्ध होता है।

वेदव्यासजीके आशयानुसार सम्पूर्ण वेद 'सर्वं ब्रह्म' इस ब्रह्मवादके स्थापनके लिये हैं। किन्तु उसी वेदमें 'यतो

---

१ ततो ब्रह्मप्रतिपादनार्थे प्रवृत्ताः श्रुतय. 'यतो वा इमानि' 'तस्माद्वा' इति मध्ये भूतभौतिकसृष्टिं सम्पादयन्ति ब्रह्मनिरूपणार्थम्। तासां किं सृष्टिपरत्वम्, जगतो वा ब्रह्मत्वप्रतिपादकत्वम्, अध्यारोपापवादेन ब्रह्मावबोधस्थिरीकरणार्थम्, माहात्म्यबोधनार्थं वेत्यादिनानासन्देहे तन्निर्धारार्थमाह—बृहदुपलब्धमेतत्—भगवन्माहात्म्यप्रतिपादनद्वारा सिद्धार्थप्रामाण्याः साक्षाद्भगवत्प्रतिपादिका इति फलिष्यति, तदर्थं प्रथम जगतो ब्रह्मत्व प्रतिपाद्यते—एतदुपलब्ध चराचर जगत् बृहत् इत्येव अवयन्ति ब्रह्मविदो वेदाश्च । नन्वेतदनित्यानात्मदु·खात्मक ब्रह्म तु तद्विपरीतम्,……कथ ब्रह्मत्वमिति चेत् तत्राह—अवशेषतया, अवशिष्यत इत्यवशेष. । यथा काचादिसहिते सुवर्णे यदेवावशिष्यते तस्यैव मूल्यादौ व्यपदेश. । यथा वा घृतार्थिनः तन्दुलार्थिनो वा दुग्धधान्यादिषु यदेवावशिष्यते तत्त्वेनैव व्यवहारः क्रयविक्रयादिः । तथा विकारसहिते जगति, विकारेष्वपगतेषु ब्रह्मैवावशिष्यत इति । नन्ववशेष एव कथ ब्रह्मणो, निरवशेषतयापि नाशसम्भवात् । न ह्यग्निना जले आवर्त्यमाने सर्वशोषे किञ्चिदवशिष्यते, तस्मात्कथ ब्रह्मेति चेत्—तत्राह—यत उदयास्तमयाविति । 'यतो वा इमानि' इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मण एव जगदुत्पद्यते, ब्रह्मणि च लीयते । ननु जगत उदयास्तमयावेव न भवतः । ……दर्शनादर्शनरूपत्वमाविर्भावतिरोभावरूपत्व वा जगतोऽवगन्तव्यमुत्पत्तिप्रलययोः ।…तत्राह—विकृतेः । अस्तु धर्मिणो वार्ता, विकाराः सर्वे पूर्वमविद्यमाना एव आश्रयमाश्रित्य उत्पद्यन्त इत्यवगन्तव्यम् । अत उदयास्तमयावेव विकारजातस्याङ्गीकर्तव्यौ । यत्किञ्चिन्मनसा विभाव्यं यत्किञ्चिद्वाचा अनूद्य तत्सर्वं त्वय्येव विषये भवति । मनस्तु मनोरथ भावयतीति मिथ्याविषयमेव भवति, तथा वागपि । यत्र वाङ्मनोविषयस्यापि ब्रह्मत्वम्' तत्र कार्त्स्न्येन अभिव्यक्तस्य जगतो ब्रह्मत्वे

वा इमानि भूतानि' 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यादि श्रुतियों-द्वारा मध्यमें भूत और भौतिक सृष्टिकी भी चर्चा आती रहती है। ऐसे समय यह विचार उपस्थित होता है कि ये भूत और भौतिक पदार्थ ब्रह्म हैं या कुछ और ही? यदि अन्य पदार्थ हैं तो फिर वेद केवल ब्रह्मका ही निरूपण करते हैं यह कैसे कहा जाय? हाँ, यदि भूत-भौतिकादि पदार्थोंका ब्रह्म होना सिद्ध हो जाय, तब तो शुद्ध ब्रह्मवादका स्थापन हो जाय, इस हेतुसे एक श्रुति कहती है कि—

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
　　　यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदिवाविकृतात्।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरित
　　　कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्॥

यह जड-चेतन विश्व जो कुछ मिल रहा है वह सब ब्रह्म (भगवान्) है और इस सिद्धान्तका निश्चय ब्रह्मवेत्ता और वेद कर चुके हैं। यद्यपि जगत् अनित्य, दुःखरूप और परिच्छिन्न है, और आश्रय ब्रह्म (जगन्नामक विश्व) नित्य सुखरूप और व्यापक है, दोनोंमें आकाश-पातालका भेद है।

क सन्देह। तेन ब्रह्मविदा सर्वे व्यवहारा ब्रह्मपरा एवेति न केनापि कर्मणा तेषां लेप इति सिद्ध्यति। नन्वसत्यस्य कथं ब्रह्मत्वं तत्राह— 'कथमयथा०'। भ्रमप्रतीतपदार्थानामपि ब्रह्मत्वात् तत्त्वेनैव तस्य भानात्। नहि ब्रह्मातिरिक्तो भासते। तन्तुभ्य पटरूपेणाविर्भावे, शुक्तिकाया वा रजतरूपेणाविर्भावे भगवदिच्छाया न कश्चन विशेषोऽस्ति, कार्यस्यापि प्रावरणस्य सुखस्य वा तुल्यत्वात्। अतो मूलभूतस्य सत्यत्वादन्यथा बुद्ध्यापि मनोवचनस्थापनं ब्रह्मविषयमेव भवतीत्यर्थः।

(भाग० सुबोधिनी १० स्क० वेदस्तुति)

अतएव विश्वके ब्रह्म होनेमें प्रत्यक्ष और युक्तिका विरोध आता है तथापि यह विश्व शुद्ध ब्रह्म है। ब्रह्मावशेष रहनेसे।

आत्यन्तिक प्रलयमें भगवान्-ही-भगवान् बाकी रह जाता है। समझदार मनुष्य सुवर्णकी परीक्षामें अवशेषको ही प्रमाण मानता है। सोनेके गहनोंमें काचादिसहित सुवर्ण होता है किन्तु जब सुवर्णकार उसे गलाता है तब वह गहना केवल सुवर्ण ही बाकी रह जाता है इस अवशेषसे निश्चय कर लिया जाता है कि गहना सुवर्ण है।

घृतार्थी मनुष्य जब दुग्ध किंवा दहीका ग्रहण करता है तब अवशेषपर ही दृष्टि देता है अर्थात् इस दही किंवा दुग्धका घृत कितना बाकी रहेगा और उसपरसे ही दही-दूधका मूल्य करता है। धान खरीदनेवाला भी उसका चावल कितना बैठेगा इस अवशेषपर ही निगाह रखता है। गहना खरीदनेवाला अवशेषद्वारा सुवर्ण निश्चय करके, धान खरीदनेवाला अवशेषसे चावलका अन्दाज करके और दूध लेनेवाला अवशेषद्वारा घीका निश्चय करके ही गहना, धान और दूध खरीदता है, इसलिये मानना पड़ेगा कि 'अवशेष' वस्तुका निश्चय करानेवाला प्रमाण है। उस अवशेषसे जगत् ब्रह्म है, यह निश्चय होता है।

यहाँ एक यह प्रश्न होता है कि केवल ब्रह्मका ही अवशेष कैसे रह सकता है? अग्निपर जल चढ़ाकर जलाने लगेंगे तो पानीमें जो कुछ होगा वह भी जल जायगा और साथमें पानी भी जलता रहेगा और थोड़ी देरमें पानीसहित कुछ

भी बाकी न रहेगा। ऐसी दशामें ब्रह्मावशेषसे जगत्को ब्रह्म कहना ठीक नहीं है।

इसका यह उत्तर है कि जलमें दो तरहके पदार्थ होते हैं—आगन्तुक और अनागन्तुक। जल और जलके धर्म स्वयं अनागन्तुक पदार्थ हैं और उसका क्षारपना, ताप, किंवा मलिनता प्रभृति आगन्तुक है। आगन्तुक पदार्थोंकी उत्पत्ति और नाश होते रहते हैं किन्तु मूल जल पदार्थ सर्वदा विद्यमान रहता है, भाफ होकर चला जाता है, अपनी दृष्टिसे नहीं दीखता, उसका तिरोभाव हो जाता है। इसी तरहसे जगत् वास्तवमें ब्रह्म है किन्तु सृष्टि-अवस्थामें मलिनता, अन्यनियम्यता, परिच्छेद, नश्वरता आदि अनेक आगन्तुक (मायाके किंवा कालके) धर्म शामिल हो जाते हैं। किन्तु प्रलयावस्थामें उन सब आगन्तुक पदार्थोंका नाश हो जाता है तब केवल ब्रह्म पदार्थ ही बाकी रह जाता है। इसलिये ब्रह्मावशेषसे 'जगत् ब्रह्म है' यह निश्चय कर लेना युक्तियुक्त है।

यहाँ एक यह प्रश्न हो सकता है कि जन्म और नाशको हम उत्पत्ति-प्रलय क्यों कहें, आविर्भाव-तिरोभाव ही क्यों न कहे? जनी प्रादुर्भावे और णश् अदर्शने धातुओंकी दृष्टिसे तो जन्म-नाशको आविर्भाव-तिरोभाव कहना ही उचित है। और जब जगत्के जन्म-नाश नहीं पर आविर्भाव-तिरोभाव मान लेते हैं तब फिर यह कहना पड़ेगा कि केवल ब्रह्मका ही अवशेष नहीं किन्तु जगत्का भी अवशेष रहा ही। ऐसी अवस्थामें 'जगत् ब्रह्म है' इस साध्यमें 'ब्रह्मावशेषको' हेतु देना ठीक नहीं है?

इसके उत्तरमें कहना होता है कि विकाररूप जो जगत् है उसके आविर्भाव-तिरोभाव नहीं होते किन्तु जन्म-नाश (उत्पत्ति-प्रलय) ही होते हैं। प्रलयावस्थामें विकृत जगत्का नाश हो जानेपर केवल आश्रय (जगत्) ब्रह्म रह जानेसे जगत् ब्रह्म है, जगत् जगत् नहीं, यह निश्चय हो जाता है। आश्रयरूप जगत् तो ब्रह्म ही है, ब्रह्मका ही एक नामान्तर है। परब्रह्म एक रूपसे भी व्यापक है और अनन्त रूपोंसे भी व्यापक है। उन अनन्त रूपोंमें भ्रमप्रतीत जगत्, मध्यम जगत् और आधिदैविक आश्रयरूप जगत् भी है। गम् धातुके अर्थको लेकर ही तीनोंका यौगिक नाम है। केवल आधिदैविक जगत्मे ही आविर्भाव-तिरोभावको गमनका अर्थ समझना चाहिये। और अपर विश्वोंमें उत्पत्ति-प्रलय किंवा जन्म-नाशको गमन समझना उचित है। जगत् कोई पदार्थ ब्रह्मसे जुदा है ही नहीं। प्रकारभेद रहनेपर भी तीनों प्रकारका जगत् ब्रह्म है। सत्य जगत् ब्रह्म है, सत्यानृत जगत् ब्रह्म है और असत्य जगत् भी ब्रह्म है। ब्रह्मरूप वस्तु ही ऐसी है कि जिसमें लौकिक वाणी और मनको असत्यता किंवा भ्रम हो जाता है। और वेद जो सत्यार्थका प्रकाश करता है वह भी ऐसे परोक्ष ढङ्गसे उस वस्तुका निरूपण करता है कि बड़े-बड़े विद्वान् भी तत्त्वनिरूपण करते समय भ्रममें पड़ जाते हैं—

भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान्।

वेदवाणी वास्तवमें सर्वत्र ब्रह्मका ही निरूपण करती है, पर श्लेषमर्यादासे परोक्षवादरूपसे, क्योंकि उसे सारी दुनियाको वैदिक धर्ममें लाना है, धीरे-धीरे उच्चाधिकारी

बनाना है। एक तो वेदकी परोक्षवादपद्धति, और दूसरे अनृत (माया) संवलित मन तथा अनृतको ही कहनेवाली लौकिक वाणी, इन कारणोंसे सत्यानृत जगत्‌में फँसे हुए मनुष्य तथा कितने ही तत्त्ववेत्ता लोग भी भ्रममें पड़ जाते हैं। इन तीनों जगत्‌के भेदको न समझकर कितने ही तो सत्य जगत्‌को असत्य सिद्ध करनेमें ही अपना पाण्डित्य व्यय कर देते हैं। और कितने ही सत्यानृतको भी केवल सत्य समझानेका आग्रह करने लगते हैं।

'शशश्रृङ्गमस्ति' कहनेपर भी शब्दराशि विषयका ज्ञान करा ही देता है और अनृतानुमोदित मन उसको वैसा समझने भी लगता है पर वास्तवमें तदर्थ सत्य नहीं है। इतना रहनेपर भी शब्द ब्रह्म होनेसे वह ब्रह्म तो कहा ही जायगा। यह बात दूसरी है कि वह दूसरे प्रकारका ब्रह्म है। इसलिये लौकिक वाक् और लौकिक मनका विषय जगत् दूसरा है, सत्यानृत है और उसका तो उत्पत्ति-प्रलय ही होते हैं, आविर्भाव-तिरोभाव नहीं। तथापि वह ब्रह्म तो है ही, ब्रह्मवेत्ताओंका मन सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करनेवाला होता है अतएव वे सब तरहके जगत्‌का व्यवहार करते हैं तथापि उनका वह व्यवहार ब्रह्मपर ही होता है। और किसी तरहके कर्मसे भी उनको न लेप होता है और न बन्धन। शतशः प्रकारके मिट्टीके वासनोंपर यदि पैर रक्खोगे तो क्या वह 'पैर पृथ्वीपर धरा है' यह नहीं कह सकते? पृथ्वीपर ही कहा जायगा।

यहाँ यह एक प्रश्न और होता है कि असत्य पदार्थ, भ्रमप्रतीत पदार्थ ब्रह्म कैसे कहा जा सकता है। इसके उत्तरमें

कहते हैं कि 'कथमयथा'। भ्रमप्रतीत पदार्थ भी ब्रह्म है। सद्रूप चिद्रूप पदार्थ ब्रह्म हैं। भ्रमप्रतीत पदार्थ भले सद्रूप न हों तथापि वे चिद्रूप तो हैं ही। यदि उसमें चिद्रूप ब्रह्म न होता तो उसका भान ही कैसे होता। समान ग्राहकताका नियम है, इसलिये भ्रमप्रतीत पदार्थ भी ब्रह्म है। ब्रह्मातिरिक्त-का भान ही नहीं हो सकता। आश्रयरूप ब्रह्म सर्व पदार्थोंमें विद्यमान रहता है—

> सत्यो हरिः समस्तेषु भ्रमभातेष्वपि स्थिरः।
> अतः सन्तः समस्तार्थे कृष्णमेव विजानते॥

सर्वमूल सर्वाश्रय श्रीकृष्ण भगवान् सर्वदा सर्वत्र विद्यमान रहता है, शुक्तिका-रजतादिमें भी आश्रयरूपसे रहता ही है। इसलिये महात्माओंको सब पदार्थोंमें कृष्णके दर्शन होते हैं। अब यह बात सिद्ध हो चुकी कि सर्वाश्रयरूप ब्रह्म (जगत्) सत्य है। यह आधिदैविक जगत् है। इस ब्रह्म किंवा जगत्में मायाका लेश भी नहीं है। इसकी सामर्थ्यसे ही सब जगत्में सामर्थ्य आती है और रहती है। तदनन्तर दूसरा जगत् मायोपबृंहित है। जिसमें उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयादि होते रहते हैं। यह भी ब्रह्म है, पर सत्यानृत है। सत्य भी आप और अनृत भी आप हो गया है। सत्य आत्मा, और अनृत अनात्मा माया। इसका विस्तारसे निरूपण 'सा वा एतस्य' इस श्लोकमें कर चुके हैं। घटपटादि सारे जगत्में यह सत्यानृत भरा हुआ है। लौकिक लोग इसके रहस्यको न जानकर सत्य समझकर फँस जाते हैं और ब्रह्मवेत्ता लोग रहस्यवेत्ता होनेसे दोनोंमें ब्रह्मका दर्शन करते हैं, निर्लेप रहते हैं। इस मध्यम जगत्में ब्रह्मांश भी है, मायांश भी है पर दोनों

ब्रह्म हैं, एक शक्तिमान् है तो दूसरी शक्ति है। धर्म-धर्मी दोनों एक हैं। तीसरा जगत् भ्रमप्रतीत है, केवल मायिक है, विषयता है। किन्तु वह भी ब्रह्म है। दो प्रकारके जगत्की सत्ता स्वतन्त्र नहीं है, इस तरह सब कुछ ब्रह्म-ही-ब्रह्म है।

कहनेका आशय यह है कि जगत् कोई पृथक् पदार्थ है ही नहीं। ब्रह्म ही सर्वत्र फैला हुआ है। अज्ञानी लोग उसे ही जगत् नामसे पृथक् पदार्थ मान बैठे हैं। सत्, चित्, आनन्द और अज्ञान ये चार पदार्थ ही तो जगत्में दीख रहे हैं। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो ये चारों पदार्थ ब्रह्मके ही अंश हैं। सत्यता ब्रह्मकी है जगत्की नहीं। ज्ञान भी ब्रह्मका अंश है जगत्का नहीं। और आनन्द भी ब्रह्मका ही है जगत्का नहीं। अब रहा अज्ञान, सो भी आत्मशक्ति माया है, आत्मा, ज्ञान-रूप है, और उसका अज्ञान भी एक तरहका ज्ञान ही है। कुछ-का-कुछ समझना यह भी तो समझ ही है। ज्ञानके साथ उसका विरोध यही अज्ञान। अतएव इसे माया कहते हैं।

जगत्का कोई अंश, जगत्का अपना नहीं है। सब सम्पत्ति माँगी हुई है, या दूसरेकी ही है। ब्रह्मके ही सत्य, ज्ञान और आनन्द फैले हुए जगत् कहे जाते हैं। जगत् कोई पदार्थ पृथक् नहीं है और है तो ब्रह्म है। यह बात श्रुतिस्तुतिमें यों कही है—

मत इदमुत्थित सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक्।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥३६॥

यह बात तो पूर्व श्रुतियोंके द्वारा सिद्ध हो चुकी कि सब प्रकारोंसे केवल भगवान्‌का ही भजन कर्तव्य है। भगवान्

---

१ एवं सर्वप्रकारैर्भगवद्भजनं निरूप्य सम्यङ्मार्गानुसारेण स्थिरीकृत्य भजनीयनिर्धारार्थं यतमानाः सच्चिदानन्दो भगवान् इति वक्तुम्, लोके सच्चिदानन्दा धर्मा एकत्र न सन्तीति किं वक्तव्यम्, प्रत्येकमपि क्वचिदपि धर्मा न सन्तीति कथनार्थं षड्भिः श्लोकैर्द्वाभ्यामेकैकस्य, लोके जडे सत्त्वम्, चेतने चित्त्वम्, स्वर्गादावानन्दत्व च नास्तीति निराकुर्वन्ति। तत्र द्वाभ्यां जगति सत्त्व निराक्रियते। अन्यथा भगवानेव सन्नित्यर्थो नोपपद्येत। भजनीयनिर्धारे गौणसत्त्वस्य अप्रयोजकत्वात। ज्ञानार्थे दोषाभावार्थं वा तदुपयोगः। असत्सेवया पूर्वं नाशो निरूपितः सत्सेवया कृतार्थता च। यदि जगत्यपि सत्त्व स्यात् तदा तत्रापि भजनं भवेत्। भजने वा दोषो न स्यादिति। तदवश्य निराकर्तव्यम्। तत्र जगतो ये सत्त्व वदन्ति तन्मत वादमुद्रया निराकुर्वन्ति—सत इदमित्यादि। पूर्वपक्षे,"' 'इद जगत् सदेव सत उत्पन्नत्वात्। यो यादृशादुत्पद्यते स तादृश एव भवति। यथा सुवर्णादुत्पन्न कुण्डलम्,"' तथा ब्रह्मणोऽप्युत्पन्न जगत्सदेव। तद् दूषयति, 'इति चेन्न।' यज्जगति सत्त्व साध्यते तत्किं कारण-सत्त्वमेव कार्ये समायातीत्युच्यते, आहोस्विदारम्भन्यायेन कार्ये सत्त्वान्तर जन्यते। यदि कारणसत्त्व कार्ये समागच्छेत्, कारणमसत्स्यात्। स्वनाशे आशङ्क्यमाने कार्यमपि न जनयेत्। अतः स्वनाशशङ्कया भगवान् जगदपि न कुर्यात्। नापि सत्त्वलक्षणो गुणः क्वचित्कारणे स्थितः कार्ये समागत इति आवयोः सम्प्रतिपत्तिरस्ति। अथ द्वितीयः पक्षः। तदप्यसत्। व्यभिचारित्वात्। सतोऽप्यङ्गाद्वेनः असन्नेव जातः। न च वक्तव्य तत्रासदंशः संघाते स्थित इति। तथासति तावन्मात्रमेव कार्येऽप्यसत् स्यात्। न तु स्वभावादिः। ननु बीजे स एव सङ्क्रान्त इति चेत्तर्हि ततः पृथोराविर्भावो न स्यात्। ननु न कारणमात्र कार्ये सत्त्व-मुत्पादयति किन्तु समवायिकारणमेव।"' .... 'तत्राह—क्व च मृषेति। शुक्तिकातः भ्रान्तप्रतिपन्न रजतमुत्पद्यते, शुक्तिकायाः सत्यत्वेऽपि न तत्सत्य

दो प्रकारका है-आधाररूप और आधेयरूप। लोकमें लौकिक रूप (आध्यात्मिक-आधिभौतिक जगत्‌रूप) से प्रकाशित हुआ भी भगवान् है और उन सबका आधाररूप सच्चिदानन्द भगवान् भी भगवान् है। दोनोंमेंसे किसकी सेवा करनी चाहिये। वास्तवमें देखा जाय तो लोकमें एक ही जगह सत्, चित्, आनन्द तीनों तो मिलते ही नहीं परन्तु ये तीनों पृथक्-पृथक् भी जगत्‌में नहीं हैं। उसमें सबसे पहले जगत्‌के सत्यत्वका खण्डन करते हैं अन्यथा भगवान् ही केवल सत्य हैं, यह बात सिद्ध नहीं हो सकती। यहाँ एक यह आशङ्का हो सकती है कि जगत्‌में चाहे मुख्य सत्त्व न हो किन्तु आगन्तुक

भवति । शुक्तिकाश्रयत्वात्तद्रजतस्य शुक्तिकैव समवायिकारण तस्माद् व्यभिचारः सिद्ध । ननु न केवला शुक्तिस्तत्रोपादान किन्तु दोष-सहिता । ननु तथापि एकाशेन रजत सत्य स्यान्न तु सर्वथासत्य तदाह नेति । ननु सदशो दोषवशात्तत्र तिरोहित इति चेत्, तर्हि प्रकृतेऽपि, तथा प्रतीयता मनोदोपेण जगदन्यथा प्रतीयत इति । अन्यथा जगत् सच्चिदानन्दरूपेण कथ न भासते । किञ्च न केवल ब्रह्मकारणवाद एव सर्वत्र वक्तव्यः किन्तु प्रकृतिपुरुषकारणवादोऽपि, अत उभययोगात् जगत् सदसदात्मकम्,न केवल सत् । हेत्वन्तरमाह–'व्यवहृतये'–।'इद जगत् सत् सत्त्वेन प्रतीयमानत्वात्' अय विकल्पो विशिष्टकल्पना जगतः सत्त्वरूपा प्रातीतिकी, न तु परमार्थरूपा । नन्वनादिरय ससारः सर्वेषा चात्र सद्बुद्धिः, अतो ज्ञायते सदेवेति तत्राह–अन्धपरम्परयेति । न चात्र चक्षुष्मत्परम्परेति प्रमाणमस्ति । ननु वेदानुरोधाज्जगत. सत्त्वमङ्गीक्रियते तत्राह–भ्रमयति । भारती वेदरूपा त्वदीया वाणी कर्मपरान् भ्रामयति । भ्रामणप्रकारस्तु द्वितीयस्कन्धे निरूपित. 'वेदो हि ब्रह्मगतमेव सर्वमाह लोक. पर भ्राम्यति जगद्गतमिति । (भाग० सुबो० वेदस्तुतिः)

सत्यत्व तो है ही। जगत् भगवान्का अंश है, अंशीका धर्म अंशमें आता है इसलिये आगन्तुक सत्त्व मानना ही पड़ेगा। फिर जगत् सत्य नहीं है यह किस आधारपर कहते हो। तो इसका उत्तर इतना ही है कि गौण सत्यत्व अप्रयोजक है। 'सब कुछ ब्रह्म है' यह समझनेके लिये गौण सत्त्वका उपयोग कर लिया जाय किंवा ब्रह्मको निर्दोष दिखानेके लिये भी गौण सत्त्वका उपयोग कर सकते हैं। किन्तु यहाँ भजनीय स्वरूपका निर्णय करना है। कौन-से भगवान्की सेवा करनी उचित है यह वेदस्तुतिने निर्णय किया है। सेवनीयके निर्णयमें गौण सत्त्व अप्रयोजक है। असत्सेवासे नाश और सत्सेवासे कृतार्थता होती है, यह पहले निरूपण हो चुका है। अब यदि जगत्को भी सत्य मान लिया जाय तो उसका भी सेवन प्राप्त हो, किंवा कोई उसका सेवन (विषयसेवन) करे तो वह निर्दोष कहा जाय? इसलिये जगत्का सत्यत्व निराकर्तव्य ही है। सो वादकी रीतिसे निराकरण करते हैं—

'सत इदमुत्थितं सत् इति चेत्' इत्यादि।

वादी अपने वादकी उपपत्तिमें एक अनुमानको आगे करता है कि यह जगत् सत्य है क्योंकि सत्य ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, जो जिससे उत्पन्न होता है वह वैसा ही होता है। जैसे सुवर्णसे उत्पन्न कुण्डल भी सुवर्ण ही होता है। वादीके इस अनुमानका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती तर्कके सामने तर्कसे ही उसको निग्रहस्थानमें लाता है। भद्रमुख! यह जो आप कारणानुमानसे कार्यमें सत्यता लाते हैं, वह सत्यता क्या कारणकी सत्यता ही कार्यमें आ जाती है, या आरम्भ-

न्यायसे (त्रसरेणु आदिमें रूप आदिकी तरह) कोई नवीन सत्यता ही कार्यमें पैदा हो जाती है। पहला पक्ष तो ठीक नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि यदि कारणकी सत्यता ही कार्यमें आ जाती है तो कारण असत्य हो जाना चाहिये। और स्वनाशकी आशङ्कासे कारणसे कार्यकी उत्पत्ति ही क्यों होने लगी। और आजतक न हमें और न तुम्हें, ऐसा अनुभव हुआ कि कारणका सत्यत्वरूप गुण कार्यमें उतरता हुआ दीखा हो।

अब यदि कहो कि कारणके सत्यत्वने कार्यमें दूसरा ही सत्यत्व पैदा कर दिया है तो भी ठीक नहीं क्योंकि सत्यसे सत्य ही पैदा हो ऐसा निश्चित नियम नहीं है। अङ्ग राजासे वेन-जैसे दुष्टकी उत्पत्ति हुई है। यदि कहो कि अङ्गके देहमें असत् अंश।था तो फिर वेनका भी देहमात्र असत् होता। स्वभाव, बुद्धि आदि असत् कैसे हुए। यदि कहो कि वह असत् अंश बीजमें भी संक्रान्त हुआ इसलिये वेनके स्वभावादि भी असत् हुए तो फिर वेनके देहसे पृथु-सदृश उत्तमका होना असम्भव है। यदि कहो कि बीज निमित्तकारण है, समवायिकारणसे उत्पन्न तत्सदृश होता है, तो भी ठीक नहीं, सीपमें चाँदीका भ्रम होता है। यह चाँदी सीपका आश्रय लेकर ही उत्पन्न होती है इसलिये इस भ्रमप्रतिपन्न चाँदीका समवायिकारण सीप है किन्तु सीप सत्य है पर उससे उत्पन्न चाँदी असत्य। यदि कहो कि केवल शुक्तिकाश्रित चाँदी नहीं पैदा होती किन्तु चाकचक्यादि तथा विशेषका मालूम न होना भी साथमें है इसलिये वह असत्य चाँदी पैदा होती है तो भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसी अवस्थामें एकांशमें रजत सत्य रहेगा

सर्वथा असत्य नहीं । पर रजत तो सर्वथा असत्य है। यदि कहो कि रजतका सदंश दोषसे छिप गया है तो फिर जगत्‌के विषयमें भी ऐसा ही समझ लीजिये । अर्थात् अपने दोषसे ही जगत् भगवान्‌से पृथक् सत्य प्रतीत होता है। अन्यथा सच्चिदानन्द भगवान् ही जगत् है तो वैसा न दीखकर ऐसा क्यों दीखता है।

और क्या ब्रह्मकारणवादका ठेका है । प्रकृतिपुरुषवाद भी तो दुनियामें फैला हुआ है उसे क्यों न मान लिया जाय । प्रकृतिपुरुष असत्सत् हैं इसलिये उनसे पैदा हुआ यह जगत् सदसदात्मक होना उचित है न कि केवल सत्य ही।

यदि कहो कि दुनियाकी समझमें यह जगत् सत्य है इसलिये सत्य ही मानना चाहिये । लोकप्रतीति भी प्रमाण मानी जाती है, जैसे ब्रह्मके विषयमें । साधारण लोग ब्रह्मको जैसे सत्य मानते हैं वैसे वे जगत्‌को भी सत्य मानते हैं, यह ठीक है।

इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह तुम्हारी विशिष्ट कल्पना केवल कल्पनामात्र है वास्तविक सत्य नहीं है। 'जगत् सत्य है' इस दुनियाकी प्रतीतिमें कोई पक्का प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि प्रतीतिपरम्परा ही प्रमाण है, अनादि कालसे सब लोग जगत्‌को सत्य मानते चले आ रहे हैं तो इस परम्पराके प्रमाणसे सत्य ही मानना उचित है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह परम्परा सूझते हुए मनुष्योंकी परम्परा नहीं किन्तु अन्धोंकी परम्परा है, करोड़ों अन्धोंकी परम्परा भी प्रमाण नहीं हो सकती। यदि कहो कि 'तत्सत्यम्'

इत्यादि वेदकी श्रुतिके बलसे हम जगत्को सत्य कहते हैं तो भी ठीक नहीं। क्योंकि वेद तो केवल ब्रह्मके सत्यत्वका अनुवाद करता है। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' यह सब ब्रह्म है यों सबको ब्रह्म बताकर फिर कहता है कि तत्—वह सब—सत्यम्—सच्चा है। ऐसी अवस्थामें ब्रह्मको ही सत्य कहता है। जगत्को पृथक् मानकर सत्य नहीं कहता। पर लोग उस वाक्यके आशयको न समझकर जगत्को सत्य मान बैठते हैं। भ्रममें आ रहे हैं।

द्वितीय स्कन्धमें कहा है कि—

शाब्दस्य हि ब्रह्मण एष पन्था
यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः।
परिभ्रमंस्तत्र न विन्दतेऽर्थान्
मायामये वासनया शयानः॥
(श्रीमद्भा० २। २। २)

वेदको सारी दुनियाको अपने मार्गपर लाना है शनैः-शनैः। अनुगृहीत तत्त्ववेत्ताओंके सिवा साधारण लोग वेदकी श्लिष्ट वाणीको नहीं पहचान सकते अतएव भ्रममें पड़ जाते हैं। और वासनायुक्त मनसे मायामय जगत्को ही उसका लक्ष्य समझकर स्वर्गादिफलक कर्ममार्गमें फँस जाते हैं। वेद तो सर्वत्र ब्रह्मका ही निरूपण करता है। जहाँ इन्द्रका निरूपण है वहाँ वेदका आशय किसी पृथक् इन्द्रसे नहीं किन्तु भगवान्से ही है। भगवान्‌की बाहु इन्द्र है। इस तरह सारे वेदमें श्लिष्ट वाणीसे ब्रह्मका ही निरूपण है पर लोग वासनावश मायामय जगत्को उसका लक्ष्य बना लेते हैं।

ऐसा होनेसे मार्गसे च्युत होकर भ्रमण करते रहते हैं और वास्तव अर्थ भगवान्‌को नहीं पहुँचते—

सद्बुद्ध्या सर्वथा सद्भिर्न सेव्यमखिलं जगत्।
भ्रान्त्या सद्बुद्धिरत्रेति सन्तं कृष्णं भजेद्बुधः॥

सेवनीयके निर्णयमें यह निश्चय है कि जगत्‌को सत्य मानकर इसका सेवन सर्वथा न करे, जो कुछ दीखता और सुननेमें आता जगत् है वह सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म है, जगत्‌की पृथक् सत्ता ही नहीं है। जगत्‌को पृथक् पदार्थ मानकर और सत्य मानना यह जीवका भ्रम (अविद्या) है इसलिये सर्वदा सत्य भगवान् श्रीकृष्णका ही सेवन करे।

ठीक[1] है जगत् सत्य न रहे, और इसी हेतुसे जो लोग इस जगत्‌के सेवनमें एकदम लिप्त हो रहे हैं निवृत्त हो जायँगे।

---

१ ननु जगतः सत्यत्व मास्तु, तेन विशेषतः सेवमाना न सेविष्यन्ति। ये तु पुनः स्वभावतः सेवन्ते तेषां निषेधः केन वा सिद्ध्येत्। सत्त्ववत् असत्त्वस्यापि जगत्यभावात्। यद्यसत्त्वसाधकमत्र न भवेत् तदैव वक्तुं शक्येताऽपि। असत्त्वसाधकं तु वर्तते। इदं जगत् असत् कादाचित्कत्वात्, यन्नैव तन्नैव यथा ब्रह्मेति। यद्यस्मादिदं जगदग्रे सृष्टेः पूर्वं नाऽऽस। न वा अतो निधनात्प्रलयानन्तरं च भविष्यति। अतो मध्ये कदाचिदेव जातम्, तेन ज्ञायते असदिति। यद्धि सत् तत्कालत्रयेऽपि भवति। नन्वनेन हेतुना सत्त्वाभाव एव सेत्स्यति न त्वसत्त्वम्। व्यतिरेकिणापि तदभाव एव साध्यते न तु धर्मान्तरमिति चेत् तत्राह—'अनुमितमन्तरा त्वयि मृषैव भाति'। यद्धि यस्मिन्विद्यमाने अतिरिक्तं भासते तत्त्वेन तन्मिथ्येति सिद्धम्। यथा शुक्तिकायां रजतं तथा सर्वमिदं ब्रह्म, श्रुत्या ब्रह्मविद्भिश्च निर्णीतम्, तथापि यदन्यथा भासते जगत्त्वेन तन्मृषैव भवितुमर्हति। इन्द्रियार्थयोर्मध्ये भाति तन्मृषा। ननु तथाप्यसत्त्वं कथं सेत्स्यति, न

पर जो लोग अपने स्वभावके अनुसार साधारणतया इसका सेवन कर रहे हैं उनको सेवनका निषेध कैसे किया जाय? जगत् यदि सत्य नहीं है तो एकदम असत्य भी नहीं है इसलिये जगत् सत् और असत्से जुदा ही है। तो अब जगत्का एकदम परित्याग नहीं हो सकता यह आशङ्का करके कहते हैं कि—

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-
दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे।
अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-
र्वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥३७॥

यह बात तब हो सकती थी जब कि जगत्को असत्य माननेका कोई कारण न मिलता। पर असत्यसाधक कारण मिल रहा है। यह जगत् असत् है, कादाचित्क होनेसे, जो कादाचित्क न हो वह असत् भी नहीं होता, जैसे ब्रह्म। ब्रह्म कादाचित्क नहीं है इसलिये असत् भी नहीं है। सृष्टिके पूर्वमें यह जगत् अपने स्वरूपसे वर्तमान नहीं था, और प्रलयके अनन्तर रहेगा भी नहीं, केवल मध्यमें दीखने लगता है और वह भी कदाचित्। अर्थात् कभी दीखता है कभी नहीं भी दीखता। इसलिये यह जगत् असत् है। जो सत् होता है वह तीनों कालमें रहता है। भगवान्का आधार होनेसे झूठा है

ह्यसतः प्रतीतिरस्ति इति चेदत आह असत्सादृश्याज्जगदसदित्युपमीयते। ननु वैदिकाना महतामपि जगति सद्बुद्धिः, अन्यथाऽस्य असत्त्वे, स्थैर्याभावाद् विश्रम्भेण सर्वे व्यवहारा न भवेयुः, तत्राह—वितथमनोविलासम्। ऋतम् इति अबुधा अवयन्ति। एतादृशमपि सत्यमिति मन्यन्ते तेऽबुधाः। (भाग० सुबो० वेदस्तुतिः)

तथापि दीखता है। जैसे शुक्तिकाके आश्रयसे असत्य चाँदी दीखने लगती है। और यह दीखना भी अनुमानमात्र है प्रत्यक्ष नहीं—

सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्।

इस प्रत्यक्षके लक्षणके अनुसार सत्य पदार्थके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध होनेपर ही प्रत्यक्ष होता है, यहाँ तो चाँदी झूठी है इसलिये चाँदीका अन्दाज ही मानना पड़ेगा।

आप (भगवान्) एकरस हैं। आपके स्वरूपमें यह विभिन्न रस जगत् अपनी स्वतन्त्र सत्तासे जो दीखता है वह बिल्कुल झूठा है। शशश्रृङ्ग, शुक्तिरजतादिकी समानतासे इसे झूठा ही समझ लेना उचित है। भान तो केवल आश्रयके अनुरोधसे होता है। मनके मनोरथ जैसे झूठे भी बुद्धिमे भासित होते हैं इसी तरह यह जगत् भासित होता है। प्रिय-अप्रिय, शुद्ध-अशुद्ध अनेक प्रकारसे मनोरथ होते है। इसी प्रकारसे जगत् भिन्न अधिकारियोंके प्रति भिन्न भासित होता है। इस तरह असत् रहते भी जो लोग इसे भगवान्से स्वतन्त्र सत्ताका मान-कर इसमें लिप्त रहते हैं वे सर्वथा मूर्ख हैं।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जगत् अपनी सत्तासे सत्य नहीं है किन्तु भगवान्‌की सत्ता इसकी सत्ता है। सत्य भगवान् ही जगत्‌रूप धारण करके प्रतिभासित हो रहा है, यह सब भगवान्-ही-भगवान् है। जगत् नहीं है। भगवान्‌के ही रूपोंमेंसे एक रूप यह है।

जिस[1] तरह जडांशमें (सदंशमें) स्वतन्त्र सत्ता नहीं है इसी प्रकार चिदंशमें भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जीव स्वयं अपनी सत्तासे सत्य नहीं है। जीव स्वस्वरूपसे कुछ नहीं है। जीव भी भगवान् ही है। भगवान् सेव्य हैं, चित्सेव्य नहीं हैं। जीवोंकी जो सेवा-पूजा सत्कृति होती है वह सब जीवकी नहीं किन्तु भगवान्की ही होती है। भगवत्स्वरूपस्थितकी ही सेवा होती है, जीव तो स्वरूपसे च्युत है। भगवान् माया किंवा अविद्याकी परवा नहीं करता किन्तु जीव तो माया किंवा अविद्याके वश होकर उसके गुणोंका सेवन करने लगता है और स्वरूपानन्दका परित्याग कर प्रकृतिके गुणोंमेंसे आनन्द मिलेगा यह झूठी आशा रखकर जड पदार्थोंका अनुभव और अपेक्षा करने लगता है और शनैः-शनैः आप भी जड-जैसा हो जाता है।

---

१ एव द्वाभ्यामन्यत्र सत्यत्व निराकृत्य तत्त्वेन सत्यत्वेन तदेव भजनीयमिति सदंश विचार्य द्वाभ्यां चिदंश विचारयति—'स यदजया'। चित्सेव्येति पक्षेऽपि भगवानेव सेव्यो न तु जीवाः। स्वरूपस्थितो हि सेव्यः, जीवास्तु स्वरूपात्प्रच्युताः। इत्यादि। ननु भगवत्सेवापेक्षया जीवभजनमेव मुख्यम्, जीवे भगवानप्यस्ति जीवोऽप्यस्ति, अतः साशो भगवांस्तत्र वर्तत इति त परित्यज्य निरशः केवलः कथ सेव्य इति चेत्—'यदि न समुद्धरन्ति हृदि कामजटाः'। यत्रांशः प्रकटः भगवांश्च प्रकटस्तत्र तथैव। अतएव पूर्वं पुरुषेष्वेव भगवदाराधनमुक्तम्। यत्र पुनः स्वरूप जडतामापन्न भगवांश्च सर्वथा न प्रकटः तत्र किं स्यात्। न हि काष्ठे वह्निरस्तीति शीतनिवृत्त्यर्थं होमार्थं वा काष्ठ सेव्यते। तस्मादप्रकटभगवत्स्वरूपा. सर्वथैव न सेव्याः। (भाग० सुबो०वेदस्तुतिः)

सर्वसद्गुणमाहात्म्यः सर्वदोषविवर्जितः ।
भगवानेव सेव्यो हि न तु जीवाः कदाचन ॥
कालादितृणपर्यन्ता न सेव्या मुक्तिमिच्छता ।
दोषत्याजनशक्तो हि सेव्यो दाता गुणस्य च ॥
जीवेषु भगवानात्मा संछन्नस्तेन तत्र न ।
भजनं सर्वथा कार्यं ततोऽन्यत्रैव पूजयेत् ॥
सुखसेवापरो यस्तु स आनन्दं हरिं भजेत् ।
अन्यथा सुखसम्प्रेप्सुः सर्वथा दुःखमाप्नुयात् ॥
कृष्णानन्दः परानन्दो नान्यानन्दस्तथाविध ।
वेदा अपि न तच्छक्ता प्रतिपादयितुं स्वतः ॥
(सुबो० का० वेदस्तुतिः)

इसलिये सर्व सद्गुण और बड़प्पनकी निधि तथा सर्व दोषोंसे रहित भगवान् ही सेवा करने लायक है किन्तु संसारी जीव सेवा करने लायक नहीं है। सविशेष कालसे लेकर तृणपर्यन्त जगद्वर्ती कोई भी पदार्थ सेव्नीय नहीं है, क्योंकि उनमें किसीमें भी दोष दूर करानेकी शक्ति नहीं है अतएव मोक्ष चाहनेवाले जीवोंको एक श्रीपुरुषोत्तमका ही भजन करना चाहिये। भगवान् पुरुषोत्तम निर्दोष है और दोषोंको दूर करनेकी शक्ति रखता है। यह ग्राह्यत्याज्य-विवेक है, श्रीभागवत है, यही मुख्य ब्रह्मवाद है।

यहाँ एक प्रश्न होता है कि भगवत्सेवाकी अपेक्षा जीव-का भजन करना यही पक्ष ठीक है। क्योंकि जीवके भजनमें अंशांशी दोनोंका भजन आ जाता है। जीवमें भगवान् भी है जीव भी है। और केवल भगवान्के भजन करनेमें उनके अंश

रहता भी हो तथापि उनकी सेवा या पूजा नहीं करनी चाहिये। केवल पुरुषोत्तमका ही सेवन करना चाहिये। किंवा अवतारोंकी पूजा करनी चाहिये। यही मुख्य ब्रह्मवाद है।

यहाँ एक यह प्रश्न और होता है कि जड और चेतन दोनों पदार्थ सदोष हैं अतएव असत् है, इनका सेवन करना उचित नहीं है यह ठीक है किन्तु सुख तो सबको चाहिये। सुखके लिये ही सब साधनोंका परिग्रह होता है। भगवत्सेवा भी सुखके लिये ही की जाती है तो लौकिक सुख और सुखके साधनोंका सेवन करनेमें क्या हर्ज है।

इसके उत्तरमे श्रुति कहती है कि—'त्वदवगमी न वेत्ति।' लौकिक[1] चिदंशको तरह लौकिक आनन्दोका भी सेवन शास्त्र-निषिद्ध है। स्मृति-शास्त्रोंमे लौकिकानन्दके सेवनका सर्वथा निषेध है। स्त्री, धन, पुत्र, गृह आदिका भोग करनेमें शास्त्र-कारोंने अनेक नियम बॉध दिये हैं, यदि भोगकी निवृत्ति अभीष्ट न होती तो नियम लगा देनेकी आवश्यकता न पड़ती। अब रही साधारण स्त्री प्रभृति सो उनके भोगका भी निषेध

१ स्वभावत एव स्मृत्यादिषु सर्व एव आनन्दा निषिद्धा.। यथेह साधारणस्त्रियो न सेव्यास्तथा अप्सरसोऽपि, यथात्र कालादिनियमव्यति-रेकेण भोगेषु भुज्यमानेषु सर्वश्रुतिस्मृतिविरोधो भवति एव स्वर्गलोके-ऽपि ज्ञातव्यम्। यथात्रापकीर्तिस्तथा तत्रापि। अत सर्व एव सुखानुभवो निषिद्ध.। ततो निषिद्धाचरणे सर्वथा दुःखमिति सर्वमेव सुख दु.खानु-विद्धमत. कथ सेव्य स्यात्। भगवदानन्दस्तु सर्वैः सेव्य' न तत्र पूर्वोक्ता दोषाः सभवन्ति। यतोऽत्रैव भगवत्स्वरूपज्ञाने भोगादिनापि न दु.ख-निन्दाचिन्तादयो भवन्ति तदाह–'त्वदवगमी'। (भाग० सुबोधिनी वेदस्तुति.)

रह जाते हैं अतएव पूजा निरङ्ग पूजा होगी। इसलिये केवल भगवान्‌की ही पूजा क्यों ?

इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'यदि न समुद्धरन्ति।' भगवद्‌गुणोंका होना और दोषोंका न रहना यही भगवान्‌का प्राकट्य है और यही भगवदंशका प्राकट्य है। अतएव जिस जीवमें दोष न हों और 'सत्यं शौचम्' आदि प्रथमोक्त भगवान्‌के गुण मौजूद हों वह भगवान्‌सहित भगवदंश है अतएव उसका यथायोग्य सेवन करना उचित है और इसीलिये द्वितीय स्कन्धादिमें पुरुषोंमें (अवताररूपोंमें) भगवान्‌का आराधन करनेकी विधि कर चुके हैं। किन्तु ऐसे भगवत्सहित भगवान्‌के अंश सर्वत्र सर्वदा मिलने अति दुर्लभ हैं इसलिये 'पाक्षिकोऽपि दोषः परिहरणीयः' इस न्यायसे भगवान् समझकर जीवकी सेवाका सर्वथा निषेध ही उचित है। मायाका सम्बन्ध होनेसे भगवदंशके भगवद्‌गुण नष्ट हो जाते हैं और अनेक दोष आ जाते हैं। उनका स्वरूप (चेतन) भी जड हो जाता है, वे अपने आपको देहप्राणेन्द्रियस्वरूप मानने लगते हैं और तदनुकूल ही व्यवहार रखते हैं, ऐसी अवस्थामें न उनमें भगवदंश है और न भगवान् है। काष्ठमें छिपा हुआ अग्नि है इसलिये उसे अग्नि मानकर कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य पौष, माघ आदि महीनोंमें शीतनिवृत्तिके लिये अपने सामने नहीं रखता, किंवा कोई भी याज्ञिक उस शुष्क काष्ठको घृतहोमके लिये नहीं ग्रहण करता।

इसी तरहसे जिन जीवोंमे भगवदंशोंके गुण और भगवान्‌के गुण न हों वहाँ परोक्षरूपसे छिपा हुआ आश्रयरूप भगवान्

रहता भी हो तथापि उनकी सेवा या पूजा नहीं करनी चाहिये। केवल पुरुषोत्तमका ही सेवन करना चाहिये। किंवा अवतारोंकी पूजा करनी चाहिये। यही मुख्य ब्रह्मवाद है।

यहाँ एक यह प्रश्न और होता है कि जड और चेतन दोनों पदार्थ सदोष हैं अतएव असत् है, इनका सेवन करना उचित नहीं है यह ठीक है किन्तु सुख तो सबको चाहिये। सुखके लिये ही सब साधनोंका परिग्रह होता है। भगवत्सेवा भी सुखके लिये ही की जाती है तो लौकिक सुख और सुखके साधनोंका सेवन करनेमें क्या हर्ज है।

इसके उत्तरमें श्रुति कहती है कि—'त्वदवगमी न वेत्ति।' लौकिक[1] चिदंशको तरह लौकिक आनन्दोंका भी सेवन शास्त्र-निषिद्ध है। स्मृति-शास्त्रोंमें लौकिकानन्दके सेवनका सर्वथा निषेध है। स्त्री, धन, पुत्र, गृह आदिका भोग करनेमें शास्त्र-कारोंने अनेक नियम बाँध दिये हैं, यदि भोगकी निवृत्ति अभीष्ट न होती तो नियम लगा देनेकी आवश्यकता न पड़ती। अब रही साधारण स्त्री प्रभृति सो उनके भोगका भी निषेध

---

१ स्वभावत एव स्मृत्यादिषु सर्व एव आनन्दा निषिद्धाः। यथेह साधारणस्त्रियो न सेव्यास्तथा अप्सरसोऽपि, यथात्र कालादिनियमव्यति-रेकेण भोगेषु भुज्यमानेषु सर्वश्रुतिस्मृतिविरोधो भवति एवं स्वर्गलोके-ऽपि ज्ञातव्यम्। यथात्रापकीर्तिस्तथा तत्रापि। अतः सर्व एव सुखानुभवो निषिद्धः। ततो निषिद्धाचरणे सर्वथा दुःखमिति सर्वमेव सुखं दुःखानु-विद्धमतः कथं सेव्यं स्यात्। भगवदानन्दस्तु सर्वैः सेव्यः न तत्र पूर्वोक्ता दोषाः संभवन्ति। यतोऽत्रैव भगवत्स्वरूपगाने भोगादिनापि न दुःख-निन्दाचिन्तादयो भवन्ति तदाह—'त्वदवगमी'। (भाग० सुबोधिनी वेदस्तुति०)

है ही। जैसे भौम साधारण स्त्रियोंका निषेध है इस तरह अप्सराओंका भी निषेध है। जैसे यहाँ उनका सङ्ग करनेमें अपकीर्ति है तद्वत् उनके भोगमें भी निन्दा और निपात है। इस तरह प्रायः सब लौकिक सुखोंके भोगका निषेध है। निषिद्धाचरणमें दुःख मिलता ही है इसलिये सब लौकिक सुख दुःखानुभवसहित हैं अतः उनका सेवन करना योग्य नहीं है। और भगवदानन्दमें कोई दोष नहीं है इसलिये भगवान्का ही केवल सेवन करना उचित है। और वास्तवमें जो सुख नश्वर न हो उसीका सेवन करना चाहिये। लौकिक सब सुख नश्वर हैं इसलिये असेवनीय हैं। किन्तु भगवदानन्द अनन्त, अनश्वर और अजर है, इसलिये उसीका सेवन करना उचित है। यही मुख्य ब्रह्मवाद है, यही ग्राह्यत्याज्यविवेक है, यही श्रीमद्भागवत है।

इतने ग्रन्थसे यह सिद्ध होता है कि लोकमें ग्राह्य और त्याज्य दोनों पदार्थ सम्मिलित हैं। जहाँतक गुणोंका सम्बन्ध है वह सब त्याज्य है, जो निर्गुण है वह ग्राह्य है। जगत्-क्रीडा-सम्बन्धी पदार्थोंमें अक्षर ब्रह्मके पूर्व-पूर्व सब पदार्थोंमें माया किंवा प्रकृतिका समन्वय और ब्रह्मका समन्वय साथ-साथ है। प्रकृति प्रविष्ट है और भगवान् अप्रविष्ट है तथापि प्रविष्ट-की तरह दीखता है। प्रकृति प्रविष्ट है अतएव आगन्तुक है। और भगवान् दोनों तरहसे पूर्वमें ही विद्यमान है अतएव अप्रविष्ट और अनागन्तुक है। घटमें प्रतिनियत नाम और रूप प्रविष्ट हैं अतएव आगन्तुक हैं किन्तु मृत्तिका पहले ही विद्यमान थी अतएव वह अप्रविष्ट और अनागन्तुक है। शरावके समय घट, मणिकके समय घट और शराव त्याज्य है किन्तु मृत्तिका

कभी भी त्याज्य नहीं है। किन्तु ग्राह्य ही है क्योंकि वह आश्रय है। आश्रय कभी त्याज्य नहीं है, वह ग्राह्य ही पदार्थ है। जगत् त्याज्य है भगवान् ग्राह्य है।

वास्तवमें त्याज्य कोई पदार्थ ही नहीं है किन्तु सब ग्राह्य-ही-ग्राह्य पदार्थ है। किन्तु बुद्धिके विपर्याससे सत्यानृतका मेल कर रक्खा है इसलिये ग्राह्यत्याज्यविवेक करना पड़ता है। बुद्धिको मति बनाकर वेद-शास्त्रोंके द्वारा त्याज्यको भूल-कर या छोड़कर ग्राह्यका ग्रहण कर लेना बस इसीका नाम मुख्य ब्रह्मवाद है, इसीका नाम श्रीमद्भागवत है और इसीका नाम भगवत्तत्त्व किंवा मुख्य ज्ञान है।

यह ब्रह्मवाद भगवद्भक्तिका बड़ा उपयोगी है। इस ब्रह्म-वादके बिना शुद्ध हरिभक्ति हो ही नहीं सकती। ब्रह्मवाद-सहित भक्ति ही भगवान्की आत्मा है। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' इस वाक्यका भी यही तात्पर्य है। निर्गुण सत्य ज्ञान आनन्द ही भगवान् है और ब्रह्मवादसहित भक्तिमें यही भरा हुआ है इसलिये ब्रह्मवाद और भक्ति दोनों भगवान् हैं।

ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः।
द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः॥
(श्रीमद्भा० ३।३२।३२)

और इसीलिये निर्गुण ज्ञान और निर्गुण भक्ति दोनोंसे भरे हुए इस श्रीमद्भागवतको श्रीकृष्णका ही स्वरूप माना है। श्रीकृष्ण और श्रीमद्भागवत सर्वाश्रय हैं। एक रूपात्मक दूसरा नामात्मक। दोनों आश्रय हैं। दोनों भक्तोंके शरण हैं।

ज्ञानकी निन्दा किंवा उसकी गौणता जहाँ कहीं शास्त्रोंमें आयी है वह सब वृत्तिलक्षण ज्ञानकी है, फलरूप ज्ञानकी नहीं। फलरूप ज्ञान तो शुद्ध परब्रह्म है। अतएव स्वाद, नाम और रूपमें, भेद रहते भी आश्रयरूपसे और फलरूपसे दोनों एक हैं। और इसी तरह मुख्य शुद्ध अद्वैत हो सकता है। और तरहसे नहीं। भक्ति आनन्द है और ज्ञान चित् है, दोनों भगवान् हैं, यह शुद्ध अद्वैत है।

निर्गुण ब्रह्मवाद और निर्गुण भक्तिमार्ग दोनोंके कर्तव्य और फल प्रायः एक-से हैं यह बात निमि और योगेश्वरोंके संवादमें सुसिद्ध है। राजा निमिने भगवदीयोंके धर्म (कर्तव्य) और उनका लक्षण पूछा तब कवि और हरि नामक योगेश्वरने उत्तर दिया है कि—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥
भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥
अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा।
तत्कर्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात्॥

शृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥
भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ३६—४२)

इन भागवत धर्मोंमें कर्तव्य और वस्तुस्थितिका अनुवाद दोनों हैं। तृतीय श्लोक 'अविद्य' इत्यादिपर्यन्त तो ब्रह्मवादी किंवा भगवदीयके कर्तव्योंका निरूपण है। और उसके बाद 'शृण्वन्' श्लोकसे लेकर 'क्षुदपायोऽनुघासम्' पर्यन्त वस्तुस्थितिका निरूपण है। मनुष्यके इस शरीरमें कृतिके साधनविशेषमें विशेष सात हैं—शरीर, वाणी, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, अहङ्कार और साधारण स्वभाव। इन सातोंमें कुछ-न-कुछ कर्म किये जाते हैं। ये कर्म वैदिकाङ्ग भी होते हैं और लौकिकाङ्ग भी। किन्तु ब्रह्मवादी और भागवत इन

दोनोंके निश्चयमें तो सब वस्तुमात्र भगवन्मय है और भगवन्मय ही होनी चाहिये इसलिये भगवद्भक्त और ब्रह्मवादी दोनों इन सब कर्मोंको भगवान्के अर्पण करके करें, किंवा इस तरह करें कि सब-के-सब भगवान्के ही अर्पित हो जायँ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्य ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

इस भगवदाज्ञाके अनुसार ब्रह्मवादी सब कुछ भगवन्मय समझकर करता है इसलिये प्रभुके ही अर्पित होता है। प्रभुके पास ही ठहरता है, अपने पास वापस नहीं चला आता। जो लोग अपने विषय-सुखके लिये किंवा स्त्री-पुत्रादि फलके लिये किंवा मोक्षादि फलके लिये लौकिक, वैदिक किंवा भागवत कर्मोंका आचरण करते हैं वे उनके सब तरह-के कर्म भगवान्के पास नहीं ठहरते किन्तु उनके पास वापस चले आते हैं क्योंकि उन्होंने उनका एवजाना कुछ-न-कुछ फल भगवान्से ले लिया है। किसीके पास आपने पाँच रुपये रक्खे तो वे रुपये उसके पास वहाँतक रहेंगे जवतक उससे आपने उनका एवजाना कुछ न लिया हो, और जो आपने उन रुपयोंके अनुसार कुछ उससे वदला ले लिया तो फिर वे रुपये उसके पास न रहे वापिस आपके पास ही आ गये। इसी तरह ब्रह्मवादी और भक्त यह निश्चय करता है कि मैं तो भक्त होनेसे अथवा तदंश होनेसे सर्वथा परतन्त्र हूँ। उस प्रभुने किंवा अंशीने अपनी क्रीडा या सेवा करनेके लिये मुझे पैदा किया है मेरा कर्तव्य है अपने स्वरूपके अनुसार उसकी क्रीडाका साधन वनूँ, उसकी सेवा करूँ।

इस कर्तव्यानुष्ठानमें मुझे मेरा अपना स्वार्थ कुछ हो ही नहीं सकता। यों समझकर सब कर्म करे तो वे सब भगवान्‌में अर्पित होते हैं और वे ही कर्म ब्रह्मवादके तथा भक्तिके अङ्ग हो जाते हैं, वे कर्म ही भक्ति कहे जाते हैं।

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥

भगवान्‌ने अपनी क्रीडासिद्धिके लिये चार आश्रम और वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रियादि पैदा किये और उनके स्वरूपके अनुसार अपनी सेवा बतायी। उन्हें अपने-अपने कर्तव्य दे दिये। अब जो लोग किसी तरहसे भी अपने अंशी स्वामी और सर्वसमर्थ भगवान्‌की सेवा नहीं करते और उसकी आज्ञाका परिपालन न करनेसे ही उसका अपमान करते हैं वे अपनी स्थितिसे भ्रष्ट होकर नीचे गिर जाते हैं। इस तरह भगवान्‌ने दैवी जीवोंको अपना सेवक बनाया है, सेवा दी है। अब जो वे लोग इस सेवाके एवजमें भगवान्‌से कुछ ले लें तो फिर वह सेवा ही नहीं कही जा सकती। फलाकांक्षारहित सप्रेम कृति ही सेवा कही जा सकती है। इसलिये ब्रह्मवादी किंवा भगवदीय शरीर, मन, वचन, इन्द्रिय, बुद्धि, अहङ्कार, किंवा साधारण स्वभावसे भी जो कुछ करे वह सब श्रीकृष्णके अर्पण करे। फल आदिद्वारा अपने अर्पण न कर ले। इस तरह ईश्वरार्पित कर्म किंवा भक्त्यङ्ग कर्मोंसे किसी तरहका भय नहीं रहता। कर्म करते रहते भी बन्धनादि जन्ममरणादि भयसे निर्मुक्त रहता है।

यहाँ एक यह प्रश्न होता है कि जब सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् है तो फिर भगवान्से तो भयकी सम्भावना भी नहीं है, केवल काल्पनिक भय है तो उसकी निवृत्तिके लिये भगवद्भजनकी किंवा ईश्वरार्पित कर्म करनेकी क्या अपेक्षा है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि—'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः'।

भय काल्पनिक हो अथवा वास्तविक हो, किन्तु उसके परिहारके लिये उपाय तो अवश्य करना ही होता है। हाँ, इतना अवश्य देख लेना चाहिये कि यह भय किसके तरफसे आता है। जिसके तरफसे भय आता हो बुद्धिमान्को चाहिये कि उसीके शरण जाय, उसीकी खुशामद करे, उसीकी सेवा करे। देह-गेह, स्त्री-पुत्रादि प्रपञ्चको भगवान्से पृथक् मानकर जीव इनमें आसक्त होता है और तब इसपर अनेक भय आकर गिरते हैं। किन्तु इस सबका कारण भगवद्विमुखता है। भगवान्से पृथक् कुछ है ही नहीं सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् है, यह दृष्टि जहाँतक है वहाँतक भय नहीं किन्तु जब जीव भगवान्से अपेत होता है, भगवत्सम्बन्धशून्य होता है, तब इसे अपने स्वरूपकी याद नहीं रहती, यह समझता है कि मैं हाड़, चाम, मांस आदिका पुतला हूँ, मैं स्वतन्त्र हूँ, मैं प्राण हूँ, मैं इन्द्रिय हूँ, मैं सङ्घात हूँ। ये सब समझ झूठी है। इसीका नाम विपर्यय है। विपर्यय (अध्यास) अनेक प्रकारका है। यही पञ्चपर्वा अविद्या है, यह भगवन्मायाके तरफसे ही आती है। भगवन्मायाके हटे बिना यह हटती भी नहीं। जाग्रत्में सुषुप्तिकी तरह, विद्यासे यह दब जाती है पर एकदम निवृत्त नहीं होती। इसकी एकदम निवृत्ति तो मायाके दूर

होनेसे ही होती है। माया भगवान्‌की दासी है, अधीनशक्ति है इसलिये उनकी इच्छासे हट सकती है, तो बुद्धिमान्‌को चाहिये कि भगवान्‌का भजन करे। भगवद्‌गीतामें प्रभुने कहा है 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।' भगवान्‌के बताये हुए मार्गसे सप्रेम प्रभुका सेवन करे यही मायाके तरणका सरल उपाय है। भगवन्मार्गका प्रथमोपदेष्टा आचार्य है, इसलिये आचार्यको देववत्पूज्य और अपने अपनपेकी तरह अतिप्रिय समझे।

यहाँ एक यह प्रश्न हो सकता है कि स्त्री-पुत्र, धन-गृहादि भोगकी सामग्रियोंमें आसक्त होनेसे अनेक भय उपस्थित होते हैं यह ठीक है किन्तु जिसके पास ये सामग्रियाँ ही न हों, किंवा जो इन्हें परित्याग कर वनमें किंवा भगवन्मन्दिरादिमें निवास करता हो उसे भय नहीं भी हो सकता है तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि—'अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो' स्रक्-चन्दन, स्त्री-पुत्रादि पृथक् पदार्थ जो मनको विचलित कर देनेवाले हैं वे चाहे स्पार्शनादि प्रत्यक्षमें उपस्थित न भी हों, तथापि वे मनमें अवश्य उपस्थित होते हैं। अन्तःकरणके संस्कार अनादि कालसे चले आ रहे हैं, यद्यपि कभी-कभी वे सोते रहते हैं तथापि थोड़ी-सी भी उद्‌बोधन सामग्रीको पाकर जाग उठते हैं और मनको विचलित कर देते हैं। मनमें अनेक प्रकारकी कामनाएँ जाग उठती हैं। कामनाओंके जालमें पड़कर इसकी स्मृति जाती रहती है, स्मृतिभ्रंशसे जिस बुद्धिको बड़े प्रयत्नसे तैयार की थी वह सात्त्विक बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धिके नाश हो जानेसे यह चेतन भी

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, सूर्यादि, प्राणिमात्र, दिशा, वृक्ष, नदी और समुद्र प्रभृति सारे पदार्थ भगवान्के शरीर (निवासस्थान) दीखने लगते हैं अर्थात् सर्वत्र अपने प्रभुका आविर्भाव उसी तरह हो जाता है। उसी प्रकारकी लीलाएँ सर्वत्र अवलोकन करनेमें आती हैं अतएव यह भगवदीय सब सत्तात्मक जगत्को शुद्ध भगवान् समझकर प्रणाम करता है। मायाका आवरण सर्वतः हट जाता है, सत्यासत्य जगत् और असत्य प्रपञ्च दोनोंका स्वरूपभूत सत्य प्रपञ्च भगवान् प्रादुर्भूत होता है। इस तरह मुख्य ब्रह्मवाद और शुद्ध भक्तिका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है, ब्रह्मवाद और भक्तिमार्गको जो लोग असम्बद्ध भिन्न-भिन्न मार्ग कहते हैं वे गप्पाष्टकमण्डली हैं।

आगे जाकर फिर और स्पष्ट ही दोनोंका ऐक्य बताते हैं।

> सर्वभूतेषु य पश्येद्भगवद्भावमात्मन ।
> भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम ॥
> ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
> प्रेममैत्री कृपोपेक्षा य करोति स मध्यम॰ ॥

प्रणयके द्वारा सर्वत्र जिसे भगवान्के दर्शन प्राप्त हुए हों वह भगवदीयोंमे उत्तम भगवदीय है, यह पूर्वश्लोकका स्पष्ट तात्पर्य है। सारे जगत्में जो अपने भगवान्को वर्तमान देखे, और सारे जगत्को भगवान्मे देखे वह सर्वोत्तम भगवद्भक्त है। घटादि सब मृण्मय पदार्थोंमें मृत्तिका वर्तमान है और मृत्तिकामें सारे घटादि मृण्मय पदार्थ विद्यमान हैं जिस प्रकार, उसी तरहसे सारे जगत्में भगवान् हैं और भगवान्में सारा जगत् है। यह मुख्य ब्रह्मवादका मुख्य सिद्धान्त है और वह शुद्ध भक्तिके साथ मिला हुआ है। तृतीय स्कन्धमें भी जहाँ

भक्तिभेदोंका निर्देश किया है वहाँ परित्याज्य[1] भक्तिमार्गोंमें भेदको आगे रक्खा है किन्तु निर्गुण भक्तिमार्गमें अभेदको आगे रखकर निर्गुण स्नेहका निर्देश किया है।

कितनोंका यह भ्रम है कि मुख्य ब्रह्मवादमें शुद्ध भक्ति-मार्गका समन्वय नहीं हो सकता। पूज्य-पूजक सेव्य-सेवकादि भेदोंमें स्नेह हो सकता है, पर जहाँ कोई भेद ही नहीं वहाँ स्नेह किसके साथ? यह प्रश्न बना ही रहता है। किन्तु वास्तवमें उनका यह भ्रम ही है। स्नेहका कोई ऐसा नियम नहीं है कि भेदमें ही हो अभेदमें न हो। यदि ऐसा नियम होता तो फिर किसीको भी अपनपेमें ही स्नेह न होता। किन्तु सबको ही अपनपेमें स्नेह होता है। अपने-आपमें जो प्रेम होता है वह अभेदमें ही होता है। देहमें जो देहका प्रेम होता है वह अभेदमें ही होता है। प्रत्युत भेदमें भी जो प्रेम होता है वह भी अभेदप्रयुक्त ही होता है। हम जो धनसे प्रेम करते हैं वह भी उसमें और हममें कुछ अभेद मानकर ही करते हैं। श्रुति कहती है—

'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।'

स्त्रीको अपना पति जो प्यारा लगता है वह पतिके प्रिय होनेसे नहीं किन्तु अपनपेमें प्यार होनेसे पति प्यारा है।

---

१ 'अभिसन्धाय यो हिंसाम्' भेदः पारमार्थिक इति शास्त्र पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोग उक्तः। तेऽत्र साम्प्रतं विष्णुस्वाम्यनुसारिणः, तत्त्ववादिनः, रामानुजाश्चेति तमोरजःसत्त्वैर्भिन्नाः, अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः। एवं चतुर्विधोऽपि भगवता प्रतिपादितः 'अभिसन्धाय यो हिंसाम्' इत्यादिभिः। श्रीभा० सुबोधिनी।

स्त्रीकी प्रियता पतिमें नहीं है प्रत्युत उसकी प्रियता उसीमें है। क्या यह अभेदमें प्रेम नहीं है? क्या यह भेदमें ही प्रेम है? प्रिय पदार्थमें प्रियता होती है, न भेदमें और न अभेदमें।

प्रियता भगवद्धर्म है। भगवान् सर्वत्र है तो सर्वत्र प्रियता भी है। यद्यपि सर्वत्र भगवान् है और अतएव सब पदार्थ प्रिय भी हैं ही पर यदि वह प्रियता अतिरोहित रहती तो भगवत्क्रीडा सुचारुरूपसे न चलती। इसलिये भगवान्ने अपनी उस प्रियताका अधिकारके नियमसे तिरोधान कर रक्खा है। रजस्तमःसत्त्वमयी सदसती प्रकृतिके गुणोंने प्रियता-को अनेक भेदोंमें बाँट दिया। सब कुछ पदार्थ प्रिय था किन्तु अब किसीको कुछ, किसीको कुछ प्रिय लगता है। सत्त्व, रज-स्तम तीनों उस भगवान्के प्रिय धर्मको ढाँक देनेवाले हैं। तीनों-के-तीनों बन्धक है, प्रतिबन्धक हैं। जिस महात्माके ये तीनों प्रतिबन्धक हट जाते हैं, जिस महापुरुषकी मतिपरसे सत्यासत्य मायारूप आवरण दूर हो जाता है उसकी दृष्टिमें सर्वत्र स्नेहका प्रादुर्भाव होता है, सर्वत्र पूज्यता प्रकट होती है, जिसे सर्व जगत्में भगवान्का आविर्भाव है वह भाग्यवान् भगवदीय 'यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः' 'सर्वभूतेषु यः पश्ये-द्भगवद्भावमात्मनः' हो जाता है।

मुख्य ब्रह्मवाद और मुख्य भक्तिमार्गके भगवदीयोंका निरूपण करके अब गौणब्रह्मवादी और गौणभक्तिमार्गीय भगवदीयका निरूपण करते हैं—'ईश्वरे तदधीनेषु'। सर्वत्र भगवान्का प्रादुर्भाव नहीं हुआ है किन्तु शास्त्रके और भग-वदीयोंके आचरण एवं उपदेशके द्वारा यह समझ लिया है

कि सारा जगत् भगवन्मय है भगवान् है। भगवदाज्ञाओंके परवश होकर जगत्की सन्मर्यादाओंका पालन भी करना है। और आगेकी भाविनी प्रजाको यथायोग्य सन्मार्ग भगवन्मार्ग-पर चलानी भी है इसलिये बहुत-से भगवदीय लोग सन्मार्गीय जगत्का अविरोध रखते हुए जगत्को भगवन्मय किंवा भगवान् माननेका आचरण रखते हैं।

ईश्वर (भगवान्) में प्रेम करते हैं, भगवदधीन भगवदीयोंसे मित्रभाव करते हैं, भगवत्स्वरूपानभिज्ञ मूढ लोगोंपर कृपा रखते हैं और भगवद्द्वेषी किंवा भगवदीय द्वेषीके साथ उदासीनभाव रखते हैं वे भगवद्भक्त मध्यम भक्त हैं उत्तम नहीं। क्योंकि उन्हें सर्वत्र भगवद्दर्शन नहीं होते, भगवान् पृथक् और जगत् पृथक् यह भेददर्शन कुछ-कुछ विद्यमान है। यहाँ इतना और समझ रखना चाहिये कि प्रायः उत्तम भगवदीय भी कभी-कभी लोकसंग्रह किंवा किसी भगवत्कृपाभाजन भक्तको उत्तम अवस्थामें लानेके लिये यथायोग्य भिन्न भिन्नाचारका प्रदर्शन करते हैं यह उनका निरूपण नहीं है किन्तु यह निरूपण वास्तविक मध्यम भक्त ब्रह्मवादियोंका है।

अब तृतीय कक्षाके प्रारम्भिक भक्तका निरूपण करते हैं।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

साधारण भगवद्भक्तको भी सारे जगद्वर्तिपदार्थ किंवा साधारण जनोंके साथ भी दान, मान, पूजा, श्रद्धा रखना चाहिये यह भगवदाज्ञा और भगवच्छास्त्रोंका तात्पर्य है

किन्तु जो लोग इस तरह वस्तुस्थिति रहनेपर भी शास्त्र और भगवान्‌की अवज्ञा कर केवल भगवन्मूर्तिमें ही श्रद्धासे पूजा या सेवा करते हैं किन्तु भगवदीय किंवा अन्य साधारणमें श्रद्धा किंवा पूजनीय भाव नहीं रखते किंवा उनकी सेवा नहीं करते वे प्रारम्भिक भक्त होनेसे कनिष्ठ हैं।

अब इससे आगेके भक्तलक्षण श्लोकोंमें भी भगवदीय और ब्रह्मवादी दोनोंके लक्षण एक रूपसे ही दिखाये गये हैं। 'गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्' 'देहेन्द्रियप्राणमनोधिया०' 'न कामकर्मबीजानाम्०' 'न यस्य जन्मकर्मभ्याम्' 'न यस्य स्वः पर इति०' 'त्रिभुवनविभवहेतवे०' 'भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रि०' 'विसृजति हृदयं न यस्य०'।

वास्तवमें तो शुद्ध भक्तिमें ब्रह्मवादकी बड़ी आवश्यकता है। ग्राह्यत्याज्यविवेक जो ब्रह्मवादका मुख्य उद्देश्य है वह मुख्य भक्तिका भी उद्देश्य है ही। जिस प्रकार ब्रह्मवादमें शुद्ध ब्रह्म ग्राह्य और अन्य सब त्याज्य हैं इसी प्रकारसे शुद्ध भक्तिमें भी भगवान् ग्राह्य हैं और सब त्याज्य है। भक्ति और ब्रह्मवादमें भेद इतना ही है कि एक प्रेम है तो दूसरा ज्ञान। एक चिद्रूप ब्रह्म है तो दूसरा आनन्दरूप ब्रह्म है। फलमें दोनों भगवद्रूप हैं।

वास्तवमें तो सब-का-सब ग्राह्य-ही-ग्राह्य पदार्थ है कुछ भी त्याज्य है ही नहीं, किन्तु वह दृष्टि जबतक न हो वहाँतक ग्राह्यत्याज्यविवेक रहता ही है।

श्रीवसुदेवजीने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा है कि पञ्च महाभूत, प्राणादि शक्ति उनके धर्म इन्द्रियादि जो कुछ यह

दीखता है वह सब आप ही हो। आप ही सबके आधार भी हो, आप ही प्रकृति-पुरुष हो, आप ही अक्षर पुरुषोत्तम हो। मैं अब आपके शरण हूँ। इस तरहका खण्डद्वैत ब्रह्मवाद सुनकर भगवान् आज्ञा करते हैं कि—

> अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः।
> सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम्॥
> खं वायुर्ज्योतिरापो भूस्तत्कृतेषु यथाशयम्।
> आविस्तिरोऽल्पभूर्येको नानात्वं यात्यसावपि॥

हे यदुश्रेष्ठ[1]! जिस दृष्टिसे आप मुझे देखते हैं उसी दृष्टिसे सबको देखो। सब-का-सब जगत् साक्षात्परब्रह्म है, यह दर्शन होनेपर फिर कुछ खण्डपदार्थ बाकी नहीं रह जाता। मैं, आप, बड़े भाई और ये सब द्वारकानिवासी लोग किंवा और ब्रह्माण्डस्थ जड-चेतन सब-का-सब विश्व साक्षाद्भगवान्

---

१. यथा मां जानासि तथा सर्वानेव पश्यसीति। 'अयमहं कृष्णवत्सर्वं यथा वसु निखिलितम्' इत्युक्त्वा सर्वस्य [illegible] न किञ्चिदवशिष्यते इति।............अन्ये च ब्रह्माण्डस्थाः सर्वे पद[illegible] एवमेव विमृश्याः साक्षाद्भगवानेवेति। '[illegible] [illegible] भगवत्स्वयम्। एवं सर्वत्र तत्त्वज्ञानमिति [illegible]। '[illegible] भूतानि, तत्कृतेषु भौतिकेषु [illegible]

है। भगवद्रूपा मायासे तीन गुण तैयार हुए, उनसे आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक पदार्थ पैदा हुए, उन सबने मिलकर नाना सहस्रशः, लक्षशः पदार्थ बनाये। किन्तु उनके पहले ही वह सच्चिदानन्द भगवान् तत्तत्पदार्थोंके आशयों (स्वरूप) के अनुसार अपना शक्तिप्रद प्रवेश्य स्वरूप तैयार किये तैयार था। वह एक ही अपने सत्, चित्, आनन्द तथा ऐश्वर्य, श्री आदि धर्मोंके तारतम्यसे सब कुछ हो गया। उस प्रविष्टाप्रविष्ट परब्रह्मके सब कुछ हो जानेसे अब वे ही आध्यात्मिकादि पदार्थ पञ्चमहाभूतादि हस्त्यादि शरीरमें विस्तारको प्राप्त होते हैं तो चींटीके शरीरमें अल्पतम हो जाते हैं। इसलिये हे पिता! वह भगवान् ही सर्वरूपसे सर्वत्र फैलकर बैठा है, यह मनमें निश्चयकर जैसे आप मुझे परब्रह्म देखते हैं इसी प्रकार सारे जगत्को मेरा स्वरूप देखिये यही अखण्डाद्वैत ब्रह्मवाद है।

कितने ही कहते हैं कि श्रीगोपीजनोंकी भक्तिमें केवल भक्ति है ब्रह्मवादका लेश भी नहीं है। किन्तु यह उनकी भूल है, विचारसे देखा जाय तो श्रीगोपीजनोंकी शुद्ध भक्तिमें भी शुद्ध ब्रह्मवाद मौजूद है।

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
प्राप्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥

यहाँ स्पष्ट रीतिसे सर्वपरित्यागपूर्वक भगवत्परिग्रह है। ग्राह्यत्याज्यविवेक है। विषयमात्र अब्रह्म होनेसे परित्याज्य है और भगवान् ब्रह्म है इसलिये ग्राह्य है। दूसरे श्लोकमें भी 'पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्' कहकर सर्वका परित्याग है 'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा' कहकर भगवान्‌का ही ग्रहण है। आप प्रियात्प्रियतम, बन्धु देहनिर्वाहक और आत्मा सर्वाश्रय, सब कुछ आप ही हैं यह कहकर सर्व पदार्थमात्रमें भगवद्दर्शन है। और अन्तमें फिर भगवत्सायुज्य ही उन्हें फल प्राप्त हुआ है।

'तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ।'
'तदनुसरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन्'

बड़े दिनोंमें श्रीगोपीजनोंके अपने प्रियतमके दर्शन हुए। बाह्य दर्शनमें पलकोंके गिरनेका व्यवधान (विरह) होता था अतएव नेत्रोंके द्वारा हृदयमें ले जाकर खूब आलिङ्गन किया

---

१. अन्तर्गते भगवति आलिङ्गनार्थं प्रवृत्ताः स्वजीवात्मानं तत्र संयोज्य भगवता सह ऐक्यं प्राप्ताः। लिङ्गशरीरमपि तिष्ठतीति। जीवधर्मापेक्षया भगवद्धर्मो बलिष्ठा इति जीवभाव परित्यज्य भगवद्भावं प्राप्ता इत्यर्थः। अयं भावस्तावत्कालेन जातस्तत्राप्यनायासेन। निरन्तरयोगरतानामप्यप्राप्यम्। बोधकत्व भगवदनुसरणेन बोधितार्थानुसरणेन वा ध्वस्तजीवकोशाः तस्यः व्यवधायकत्वकोशं उपाधिरूपं परित्यज्य तमेवाध्यगन् भगवद्रूपा एव जाता यथा भगवान्। तेन अन्तर्भूतो भगवानेव जातः। एवं निष्कामतया गोप्यो मुख्या भक्ता जाताः। कामनिवारणार्थं च ज्ञानोपदेशः।

(भाग० सुबोधिनी १०।२२।४०—४८)

और निरन्तर योगनिरत महायोगियोंको भी जो भाव दुष्प्राप था उसे प्राप्त हुई भगवद्रूप हो गईं। यह भाव (सायुज्य) उन्हें कामसे प्राप्त हुआ था और वह अनुग्रहसे हुआ था इसलिये किसी प्रकारका साधनश्रम नहीं करना पड़ा सहज ही मिल गया। उस कामको भी दूर करना था, इसलिये ज्ञानका (ब्रह्मवादका) उपदेश दिया। उस उपदेशसे श्रीगोपीजनोंके लिङ्गशरीर ध्वस्त हो गये अर्थात् उनमें भी ब्रह्मभाव हो गया अतएव वे भगवद्रूप हो गयीं।

Printed by Ghanshyamdas Jalan at the
Gita Press, Gorakhpur.